साप्ताहिक

गीता उपदेश

कर्म, भक्ति, ज्ञान, धर्म और नीति का प्रचारक



सत्संग भवन

अम्बाला नगर - 7

❁ गीता-माहिमा ❁

"गीता हमारी वात्सल्यमयी माता की भाँति है, जिसके स्नेह और वात्सलय की झड़ी बिना किसी भेद-भाव के सब पुत्रों पर समान रूप से लगी रहती है। उनमें व्यक्तिगत योग्यता-अयोग्यता सम्बन्धी चाहे जितने अन्तर हों, किन्तु माँ के लिये सभी बच्चे एक से हैं। अतः यह बड़े गौरव की बात होगी कि हम गीता जी की एक या एकाधिक शिक्षा को अपने दैनिक जीवनमें चरितार्थ करलें और परिणाम-स्वरूप अमरता, आनन्द और ज्ञान की अक्षय निधि को प्राप्त हो जायँ।"

—स्वामी असंगानन्द जी

"गीता ग्रन्थ, वैदिक धर्म के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाओं में वेद के समान, आज करीब ढाई हजार वर्ष से, सर्वमान्य तथा प्रमाण स्वरूप हो रहा है, इसका कारण भी उक्त ग्रन्थ का महत्त्व ही है।"

—लोकमान्य श्री तिलक जी

"गीता में कर्म, भक्ति, ज्ञान-सभी विषयों का विशदरूप से विवेचन किया गया है, सभी मार्गों से चलने वालों को इसमें यथेष्ट सामग्री मिल सकती है।"

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय !

—साप्ताहिक—

❀ गीता-उपदेश ❀

इस अङ्क में पढ़िये—

❀ सत्संग भवन ❀

अम्बाला नगर-7

स्वामित्व—श्रीगीता सत्संग सभा (Regd.)

सत्संग भवन, अम्बाला नगर

सम्पादक, प्रकाशक तथा मुद्रक:—

पं: आत्मा राम रत्न

वर्ष १७] [३९ वाँ सप्ताह

२९ मार्च, १९७९

मूल्य-५० पैसे

वार्षिक चन्दा (डाक खर्च सहित) २० रुपये

'गीता उपदेश' हर गुरुवार को निकलता है।

नया वर्ष जुलाई से आरम्भ होता है।



मुद्रणालय—
'हितैषी प्रेस'
सत्संग भवन
अम्बाला नगर—7

स्वामी रामतीर्थ उपदेश माला

* आत्मानुभव *

(१)

आत्म-अनुभव आपको सभी बाहरी प्रभावों से मुक्त कर देता है। यह आपको आप ही के पैरों पर खड़ा कर देता है।

(२)

सब पापों से बचने और सब प्रलोभनों से ऊपर उठने का एकमात्र उपाय है अपने सत्य स्वरूप आत्मा का अनुभव करना।

(३)

जब तक उस वैभव और ऐश्वर्य को, जो आप को मुग्ध और आकर्षित किये हुए है, छोड़ न देंगे तबतक आप पाशविक मनोविकारों का सामना करने में समर्थ न होंगे।

(४)

जिस समय आप अपने स्वरूप का अनुभव कर लेते हैं, तभी आप सभी मनोविकारों से ऊपर और उसी समय आप पूर्ण मुक्त और परमानन्द से परिपूर्ण हो जाते हैं—यही परम स्वर्ग है।

२०वीं शताब्दी के ज्ञान-सम्राट्—



स्वामी रामतीर्थ जी महाराज

(५)

आत्मानुभव कोई बाहर से प्राप्त होनेवाला पदार्थ नहीं। आप को ईश्वर-दर्शन की प्राप्ति के लिये कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। आपने अपने चारों ओर इच्छाओंके जो अन्धकारमय कोकून या खोल बना रखे हैं, केवल उनको फाड़ डालना है।

(६)

अपने ईश्वरत्व का, ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करो; इस परिच्छिन्न आत्मा, क्षुद्र आत्मा को कतई भुला दो, जैसे यह कभी थी ही नहीं। जब यह छोटा बुलबुला फूट जाता है, तब यही अपने को महासागर पाता है। आप पूर्ण, अनन्त और सर्व रूप हैं।

(७)

ऐ पूर्ण पुरुष ! अपने असली तेज से जगमगा उठो। तेरे वास्ते न कोई धर्म है और न कोई कर्म है और न कुछ करना धरना है। सारी प्रकृति तेरी सेवा के लिये दम रोके हुये चुपचाप उपस्थित है।

(८)

यदि मानवीय, वास्तव में पाशविक भावनायें दूर कर दी जायँ, तो उनकी जगह दिव्य भावनायें अपने आप उमड़ उमड़कर बहने लगती हैं।

(९)

यदि आप वेदान्त का साक्षात् करना चाहते हैं तो इसे हर प्रकार के शोरोगुल में, सब प्रकार की आधिव्याधियों की भट्ठी में भी अनुभव कीजिये। इस संसार में आप, कभी और

कहीं, उस अवस्था में अपने को नहीं पा सकते जहाँ न बाहर का शोरोगुल हो और न कोई असुविधा।

(१०)

सच तो यह है कि परिस्थिति जितनी ही कठिन होती है, वातावरण जितना ही पीड़ाकर होता है, उन परिस्थितियों से निकलने वाले उतने ही बलिष्ठ होते हैं। अतः इन समस्त बाहरी कष्टों और चिन्ताओंका स्वागत करो। इन परिस्थितियों में भी वेदान्त को आचरण में लाओ। और जब आप वेदान्त का जीवन व्यतीत करेंगे, तब आप देखेंगे कि समस्त वातावरण और परिस्थितियां आपके वश में आ रही हैं, वे आपके लिये उपयोगी हो जायेंगी, और आप उनके स्वामी बन जायँगे।

(११)

चाहे तुम बड़े हो या छोटे, चाहे उच्च श्रेणी के चाहे निम्न श्रेणी के—इसकी रत्तीभर परवा मत करो; अपने पावों पर डटकर खड़े हो।

(१२)

अपने ईश्वरत्व, अपने ब्रह्मत्व का अनुभव करो। हर एक की तरफ आँख उठाकर देखो, झिझको नहीं। अपने आपको दूसरों की आँखों से मत देखो, वरन् सदा अपने अन्दर देखो। अन्तरात्मा आपको बतलायगी कि आप ही संसार भर में सर्वश्रेष्ठ आत्मा हैं।

(१३)

भगवन्! स्वयं अपना आदर करो और तब सब आपका आदर करेंगे।

(१४)

जब आप ईश्वरीय प्रेम को इतनी उँचाई पर पहुँच जाते

हैं, जब आप इतने ऊँचे उठ जाते हैं कि पिता में, माता में, प्रत्येक प्राणी में आपको ईश्वरके सिवा और कुछ नहीं दिखायी देता, जब आप स्त्री में स्त्री न देखकर अपने इष्टदेव, अपने प्रियतम प्यारे—ईश्वर को देखते हैं, तब निस्संदेह आप स्वयं ईश्वर रूप हो जाते हैं तब आप निश्चयपूर्वक ईश्वर के समक्ष निवास करने लगते हैं।

(१५)

शरीर से ऊपर उठो, अपने इस व्यक्तित्व भावको, अपने क्षुद्र अहंकार को जला दो, नष्ट कर दो, फूँक डालो, तब आप देखेंगे कि आपकी इच्छायें सफल हो रही हैं। दूसरे शब्दोंमें, आप को अपने क्षुद्र अहम् या आत्मा से इन्कार करना होगा।

(१६)

संसार में आपको जितना भी आकर्षण दिखायी देता है, वह सतनारायण के सिवा और कुछ नहीं है। जो प्रियतम प्यारे के शरीर में आपको दिखलायी देता है, वही तारों, पेड़ों, पर्वतों, नदियों में दूसरा भेष धारण कर लेता है। इस तथ्य का अनुभव कीजिये—बस, इस तथ्य के अनुभव से ही आप सांसारिक इच्छाओं और व्यसनोंसे ऊपर उठ सकते हैं। इस प्रकार आप सांसारिक इच्छाओंका आध्यात्मिक प्रयोग करके उनका निष्काम भावसे उपयोग कर सकते हैं।

(१७)

अपने ईश्वरत्व, अपने ब्रह्मत्व का साक्षात् कीजिये और सब काम अपने आप पूरे हो जायँगे।

(१८)

राम आपसे कहता है, केवल अपने सहारे रहिये, दूसरों

की रायों की परवाह न कीजिये । स्वतंत्र हो, केवल एक स्वामी, एक आत्मा, एक अद्वितीय, सच्चे पति, सच्चे स्वामी, अपने ही अन्दर के राम को प्रसन्न करने की चेष्टा कीजिये। हजारों को, जनता को, बहुमत को आप कदापि सन्तुष्ट न कर सकेंगे और आप इस अनेक सिरोंवाली जनता को संतुष्ट करने के लिये बाध्य भी तो नहीं।

(१९)

दुनिया की 'तू-तू मैं-मैं' में आग लगा दो, समस्त भय और आशा को नष्ट कर दो, भेद-भाव को निकाल दो, सिर और पैर के भेदको तिलांजलि दे दो।

(२०)

शरीर निरन्तर काममें लगा रहे और मन आराम और प्रेम में डूबा रहे तो आप यहीं इस जीवनमें पाप और ताप से मुक्ति पा सकते हैं।

(२१)

क्रियाशील रूपमें सब के साथ इकाई का अनुभव करने से ठीक-ठीक मौजी जीवन प्राप्त होता है।

(२२)

हृदय की पवित्रता का अर्थ है अपने आपको सांसारिक पदार्थों की आसक्तियों से मुक्त कर लेना। उन्हें त्याग देना। हाँ, त्याग, त्याग इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं—यही हृदय की पवित्रताका अर्थ है।

(२३)

धन्य हैं वे जिनका हृदय पवित्र है, क्योंकि वे ईश्वर के

दर्शन करेंगे। आप भी इस पवित्रता को प्राप्त कीजिये और ईश्वर के दर्शन कीजिये।

(२४)

आपको इसी क्षण, इसी घड़ी साक्षात्कार हो सकता है। बस, अपनी आसक्तियों को हटा दो, साथ ही सब प्रकार की घृणा और ईर्ष्या को छोड़ दो; आप मुक्त हैं।

(२५)

ईर्ष्या क्या है, घृणा क्या है ? आसक्ति का विलोम या विपर्यय ! हम किसी से घृणा क्यों करते हैं, क्योंकि हमें किसी दूसरे से मोह होता है।

(२६)

हर एक पदार्थ से अपने मोह को हटा लो और केवल एक चीज पर, एक तथ्य पर, एक सत्य पर, अपने ईश्वरत्व पर सारा ध्यान केन्द्रित करो। तुरन्त ही तुम्हें आत्म-साक्षात्कार हो जायगा।

(२७)

राम आप से कहता है, अपना कर्त्तव्य करो, पर न कोई प्रयोजन हो और न कोई इच्छा। अपना काम भर करो, काम में ही रस लो, क्योंकि काम स्वयं सुख रूप है, क्योंकि ऐसा काम ही साक्षात्कार का दूसरा नाम है।

(२८)

अपने काम में जुट जाओ, क्योंकि काम तो तुम्हें करना ही होगा। काम ही तुम्हें साक्षात्कार पर पहुँचा देगा। इसके सिवा काम का और कोई हेतु न होना चाहिये।

(२९)

राम आप से कहता है—डरो नहीं, अपने सम्पूर्ण बल

और साहस का संचय करके आगे बढ़ो और वीरता से अपने जन्म-सिद्ध अधिकार को ग्रहण करो—मैं वह हूँ—सोहम् । डरो मत, कँपो मत ।

(३०)

भय से क्यों अपने मन को उदास करते हो ? क्यों माँगने-जाँचने में अपनी शक्तियों को लगाते हो ? अपने अन्तर्भाव को प्रकट करो, सत्यको कुचलो मत और वीरता से आगे बढ़ो । निर्भय हो उच्च से उच्च स्वर में कहो--मैं ईश्वर हूँ, 'अहम् ब्रह्मास्मि' । यह तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार है ।

(३१)

इच्छामात्र प्रेम है, प्रेम ईश्वर है, और वही ईश्वर तुम हो । इसी ईश्वर के साथ अपनी एकता का अनुभव करो; फिर तुम सबसे परे हो ।

(३२)

आत्म-भावके क्षण वे हैं, जब सांसारिक रिश्तों, सांसारिक बन्धनों, सांसारिक सम्पत्ति, सांसारिक विषय-वासना और आवश्यकता के विचार एक ईश्वरके भाव में, एक सत्य में लीन हो जाते हैं ।

(३३)

सम्पूर्ण सत्य को ग्रहण करने के लिये तुम्हें सांसारिक इच्छाओं का त्याग करना होगा, तुम्हें सांसारिक राग-द्वेष से ऊपर उठना होगा । अपने उन सारे रिश्ते-नातों को नमस्कार करना पड़ेगा, जो तुम्हें बांध कर गुलाम बनाते और नीचे घसीटते हैं । यही साक्षात्कार का मूल्य है, जब तक मूल्य अदा न करोगे, सत्य नहीं पा सकते ।

(३४)

तुम चाहो कि हम संसार का भी मजा लेते रहें, दुनिया के छोटे-मोटे, और गंदे विषय-भोगों एवं पाशविक कामनाओं की भी तृप्ति करते रहें और साथ ही साथ ईश्वर साक्षात् भी कर लें, तो यह नहीं हो सकता।

(३५)

दिल से हर एक मनुष्य ईसामसीह बनना चाहता है, सत्य के अनुभव की कामना करता है, पैगम्बर बनना चाहता है किन्तु शायद ही कोई उसका मूल्य देने को तैयार हो।

(३६)

यह तो जवाहरात की दुकान है, इस जवाहर—लक्ष, स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिये आपको अपने सिर का, निम्न प्रवृत्तियों का बलिदान करना होगा। यदि यह मूल्य अदा नहीं कर सकते, तो चलते बनो।

(३७)

आप यदि 'पूर्ण' ज्ञान के आनन्द को अनुभव नहीं कर पाते तो इसका कारण यह है कि आप उसका मूल्य नहीं चुकाते; मूल्य दीजिये और इसी क्षण आनन्द का साक्षात् कीजिये।

(३८)

शरीर को ऐसे देखो जैसे वह कभी था ही नहीं।

(३९)

अपने दृष्टि-बिन्दु को बिलकुल बदल डालिये। हर एक चीज को ईश्वर रूप, ब्रह्म रूप समझिये। ईश्वर और सृष्टि

का जो सम्बन्ध है, वही आपका और संसार का सम्बन्ध होना चाहिये। पूर्ण परिवर्तन !

(४०)

अपने आप में डटे रहो, बड़े-बड़े बादशाह और राष्ट्र-पति आपके नौकर चाकर हैं।

(४१)

जीवन के सभी श्रेष्ठ और वांछनीय लक्ष हमें प्राप्त हो सकते हैं, यदि हम अपने मस्तिष्क, और उसके विषयरूप समस्त दृश्य जगत्को उस अज्ञात 'अनन्त' में लीन कर दें।

(४२)

जब हम अपने अनन्त स्वरूपका अनुभव करते हैं, समस्त भेद-भाव को जीत कर सबके साथ ऐक्य का अनुभव करते हैं, यहाँ तक कि तारों, नदियों, पर्वतों एवं समस्त प्राकृतिक दृश्यों को भी हम अपना रूप समझने लगते हैं, और प्रेम के द्वारा सबको अपनाते हैं, तो कोई भी सांसारिक प्रलोभन हम पर प्रभाव नहीं डाल सकता।

(४३)

ईश्वर आपके द्वारा काम करने लगे। फिर आपके लिये कर्त्तव्य जैसी कोई चीज न रहेगी। ईश्वर आपके भीतर से चमकने लगे, ईश्वर आपके द्वारा प्रकट हो, ईश्वर में ही रहिये-सहिये, ईश्वर को खाइये, और ईश्वर को ही पीजिये, ईश्वर में श्वास लीजिये और सत् का साक्षात् कीजिये। शेष काम अपने आप होते रहेंगे।

(४४)

सारी दुनिया उसके साथ सहयोग करने के लिये बाध्य

होती है, जो सम्पूर्ण जगत् के साथ तदात्म हो जाता है, जो सबके साथ एकताका अनुभव करता है,

(४५)

दोनों काम एक साथ नहीं चल सकते, एक आप दुनिया का भी मजा लेते रहें और दूसरे, सत्स्वरूप ईश्वर का भी साक्षात् कर लें।

(४६)

साक्षात्कार एक ही छलांग में नही हो सकता। उसके लिये समय की आवश्यकता होती है। इस नर-देह के विकास तक पहुँचने में ही हमें करोड़ों वर्ष लग चुके हैं।

(४७)

वेदान्त के अनुसार कोई ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर सकता जब तक उसका समस्त जीवन सार्वभौमिक प्रेम में बदला नहीं जाता, जब तक वह सारे जगत् को अपने शरीर नहीं मानने लगता। कदापि नहीं, कदापि नहीं।

(४८)

शिशु सीधे युवा कैसे हो सकता है ? उसे किशोरावस्था तो पार करनी ही पड़ेगी। ठीक इसी प्रकार जो मनुष्य ईश्वर के साथ तदात्म होना चाहता है, पहले समूचे राष्ट्र के साथ ऐक्यभावको उसकी नस-नाड़ीमें जोश मारना ही चाहिये।

(४९)

यदि आप विषय-वासना से पथ-भ्रष्ट हो गये हैं, यदि आप कामुकता के दलदल में फंसे हुये हैं, तो यही समय है कि अपनी सुदृढ़ संकल्प-शक्ति को जागृत करके ब्रह्मभावना को प्राप्त करो और उसे बनाये रखो।

(५०)

आपकी भीतरी कमजोरी क्या है ? वह है आपके हृदय में अज्ञान का ऐसा काला धब्बा जिसके वशीभूत होकर आप अपने को शरीर और इन्द्रियां मान बैठे हैं। इस भ्रमको मिटा दीजिये, दूर कर दीजिये और लो, शक्ति आप स्वयं हो जायेंगे।

(५१)

न सत्य पर आश्चर्य कीजिये और न उससे डरिये। अपने हृदय के अन्तस्तल से कहिये—मैं ईश्वर हूँ, 'अहम् ब्रह्मास्मि'।

(५२)

प्राचीन वैदिक युग में भी क्षुद्र 'अहम्'-संचालित कर्म-काण्ड के द्वारा कहीं अन्तिम मुक्ति मिलने का आश्वासन नहीं है।

(५३)

मुक्ति का मार्ग, साक्षात्कार का पथ है प्रकट मृत्यु। इसके सिवा और कुछ नहीं, बलिदान के सिवा और कुछ नहीं। अनुभव का और कोई मार्ग नहीं है।

(५४)

मुक्ति सदा ज्ञान से प्रकट होती है। कर्त्तव्य की पुकार मचाने वाले, जल्दबाज और स्वार्थपरता के समय गुलाम को उसका वर्तमानकालीन कर्मकाण्ड पाप-ताप से मुक्त नहीं कर सकता है।

(५५)

लोग कहते हैं कि प्राचीन बाइबिल में कर्मों के द्वारा मुक्ति का विधान है और अर्वाचीन बाइबिल में श्रद्धाके द्वारा

उसका आश्वासन दिया गया है। किन्तु स्वर्ग, परम आनन्द की सच्ची अवस्था तो केवल ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती है।

(५६)

ईसाई कहावत का अर्थ कि 'हम ईसा के द्वारा ईश्वरका अनुभव कर सकते हैं'—यह है कि ईसा की स्थिति के द्वारा अर्थात् उस स्थिति के द्वारा जहाँ तुम अपने आपको सारे संसार के साथ तदात्म करते हैं—तुम उस अच्युत, अविनाशी आत्मा में लीन हो जाते हो।

(५७)

वेदान्त के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही जगत् मिथ्या हैं। आपको इन दोनों से ऊपर उठना होगा, क्योंकि विश्राम, सच्ची शान्ति, आनन्द तभी मिल सकता है, जब हम दृश्य जगत् के आधार में विद्यमान रहने वाले सत् तत्त्व का अनुभव कर लें।

(५८)

हमारी आँखों पर अज्ञान का पर्दा रहने से हम ब्रह्म का साक्षात् नहीं कर पाते। इस पर्दे को पतला करना या अपने मन को शुद्ध करना बुद्धि के द्वारा होता है और पर्दे को क्षणभर के लिये हटाना भाव के द्वारा।

(५९)

शरीर-भावना पुण्य-भावना के बिलकुल विपरीत है और नाश का सबसे सीधा मार्ग है।

(६०)

यदि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पतन के कारण होते तो बाइबिल का उपदेश देने वाले ईश्वर ने मनुष्य के हृदय में

ऐसी बाइबिल ही क्यों लिखी जिसके वशीभूत होकर पुरुष स्त्री की तलाश के लिये बाध्य होता है ?

(६१)

वेदान्त कहता है—एक अविवाहित पुरुष की अपेक्षा वह विवाहित पुरुष आसानी से साक्षात्कार कर सकता है, जो अपने गृहस्थ जीवन को ठीक ढंग से व्यतीत करता है।

(६२)

यदि विवाह-सम्बन्ध से आप सारे संसार में व्याप्त होने वाले सार्व-भौमिक प्रेम, सार्वभौमिक प्रकाश के समीप पहुँचते जाते हैं, तब तो विवाह आपके लिये कल्याणकर है और यदि उसका ऐसा परिणाम नहीं होता तो विवाह आपके लिये विष के समान है, पापमय है, अभिशाप है।

(६३)

स्त्री नरक का खुला द्वार होने के बदले ऐसा दर्पण बन जाय जिसमें पति को ईश्वर के दर्शन होने लगें।

(६४)

इस जीवन में पति को ही स्त्री का ईसा, स्त्री को ही पति का ईसा (उद्धारक) बनना चाहिये। किन्तु आजकल हर एक स्त्री अपने पति को और हर एक पति अपनी स्त्री को जूड़ास स्कारियट (ईसा को पकड़ाने वाला) बना हुआ है।

(६५)

साक्षात्कार की सभी अवस्थामें 'मैं-तू' कुछ नहीं रहता; ज्ञात और ज्ञेय का कोई पता नहीं चलता।

(६६)

साक्षात्कार का अर्थ है अपने पुराने संगीत को नये लय

से गाना। गाने तो सदा वही पुराने रहेंगे किन्तु आपको उन्हें एक नये लय से गाना होगा।

(६७)

ब्रह्म-भाव की प्राप्ति, कोई ऐसी चीज नहीं जिसे हमें बनाना होता है, अथवा जिसे हमें हस्तगत करना पड़ता है, वहां कुछ करना-धरना नहीं है, यहां तो पहले ही से सब करा-धरा रखा है।

(६८)

जब कोई अपनी आत्मा को सबके साथ तदात्म कर लेता है तब वह इच्छा कर ही नहीं सकता, वह तो प्रत्येक वस्तु को अपनी ही मानकर उनका उपयोग करता है।

(६९)

जिसे ब्रह्म-भाव की प्राप्ति हो गयी है, उसकी सारी इच्छायें पूरी हो जाती हैं। उसे न कोई धोखा देगा और न उसे कोई दुःख-दर्द होगा।

(७०)

जीवन-मुक्त पुरुष, स्वतन्त्र पुरुष वह है जो परमात्मा में, ब्रह्म-भाव में इस प्रकार रहता सहता है, जैसे उसका शरीर कभी पैदा ही नहीं हुआ था।

(७१)

ऐसे जीवन-मुक्त पर डाक्टरों, प्रोफेसरों, और दार्शनिकों का प्रभाव नहीं होता, चाहे वे चिढ़ायें, चाहे प्यार करें, चाहे अच्छा कहें, चाहे बुरा कहें। उसके समीप इन बातों का कोई मूल्य नहीं।

(७२)

आनन्दमग्न है वह जो स्वर्गीय नशे में डूबा हुआ है।

(७३)

महात्मा वह है जिसकी विशाल सहानुभूति और मातृवत् हृदय सबको, पापियों और दीन-दुखियों को भी प्रेम से अपने अंक में स्थान देता है।

(७४)

धन्य भाग्य है उनका जो ब्रह्मभाव की सुरा से बिल्कुल बेहोश हो गये हैं।

(७५)

उसके आनन्द का क्या कहना जो पापसे मुक्त हो गया है, जिसने अपने को वश में कर लिया है और जो आत्मस्थित है, जो स्वयं अपना स्वामी है। यह आनन्द कहीं और नहीं मिलेगा।

(७६)

वेदान्तिक साधना की प्राप्ति आजकल बड़ी कठिन है, क्योंकि अधिकाँश मनुष्य—योरप और अमेरिका में यह सोचते हैं कि हमसे अपने आपको ईश्वर में बदलने के लिये कहा जा रहा है, हम से अपने अन्दर ईश्वरत्व का विकास करने की आशा की जाती है।

ॐ ! ॐ !! ॐ !!!



नाम और प्रणाम

— लेखक —

स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती

नर्मदा का पावन तट। सायङ्कालीन सन्धया-वन्दन के पश्चात् का समय। नर्मदाकी लहरों में चन्द्रज्योत्स्ना चमक रही है। पक्षियों का कलरव शान्त है। एक सौम्यमूर्ति तट के पास ही एक शिलाखण्डपर बैठकर ध्यानमग्न हो रहे हैं शान्ति का साम्राज्य है। इसी समय एक तरुण जिज्ञासु ने आकर उनके चरणों का स्पर्श किया। महात्माजी की आँखें कुछ खुलीं, मुख पर मन्द-मन्द मुसकराहट आयी। उन्होंने कहा—'बेटा' शान्ति से बैठ जाओ।' युवक ने आज्ञा पालन किया।

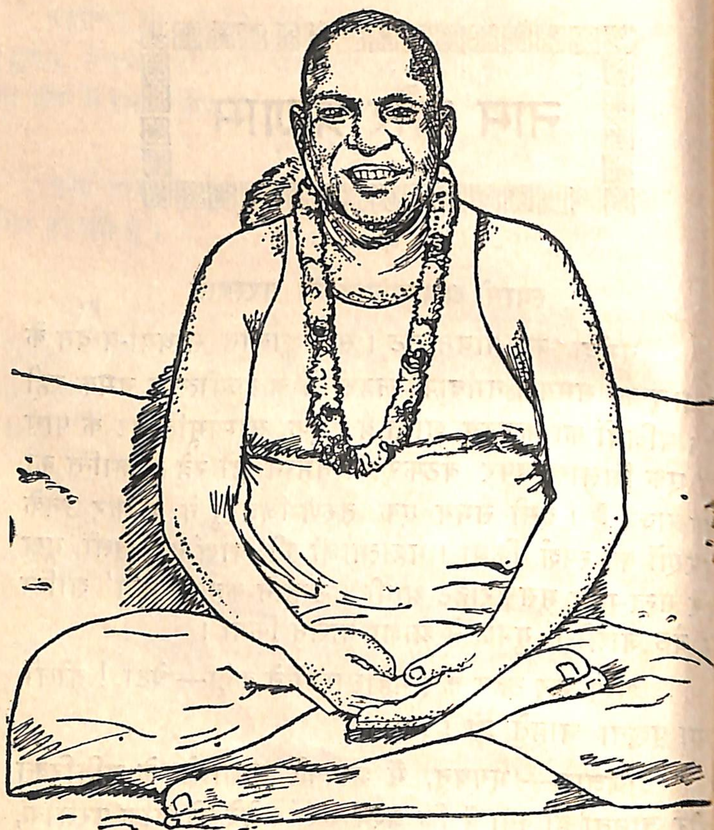
क्षण भर ठहर कर महात्माजी ने कहा—'बेटा ! बोलो, क्या पूछना चाहते हो ?'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं आपकी आज्ञाओं के अतिरिक्त और जानता ही क्या हूँ कि प्रश्न करूँ। मेरे तो लोक-परलोक, ईश्वर-परमेश्वर—सब आप ही हैं। आप सबके सम्मान, सबकी पूजा का उपदेश करते हैं, इसलिए करता हूँ। उनके अस्तित्व और नास्तित्व के आप ही परम प्रमाण हैं। आप जो उचित समझिये, उपदेश कीजिये।'

महात्मा जी—'बेटा, तुम्हारा कहना ठीक है। फिर भी

-Research Scholar-

(तत्त्व-अन्वेषक)



-स्वामी अखण्डानन्दजी-

जब साधक साधना में लगता है तब उसके सामने कितनी ही कठिनाइयाँ आती हैं, कितनी ही स्थितियाँ प्राप्त करने की इच्छा होती है। मन को एकाग्र करने की चेष्टा करते ही उसके सामने अनेक प्रकार के लुभावने दृश्य उपस्थित होते हैं। उनके सम्बन्ध में प्रश्न किये बिना काम नहीं चलता। प्रश्न से मालूम हो जाता है कि यह साधक अन्तर्मुख हो रहा है या नहीं, अथवा इसकी अन्तर्मुखता किस श्रेणी की है। इसके प्रश्न में विवाद, कौतूहल, जिज्ञासा अथवा श्रद्धा का भाव है, इस बात का पता चल जाता है। यदि अधिकार का पता चले बिना ही कोई बात कही जाती है तो वह साधक के चित्त पर बैठती नहीं। ऊँचे अधिकार की बात वह ग्रहण नहीं कर सकेगा और नीचे अधिकार की बातमें रुचि नहीं होगी। इसीसे शास्त्र में निषेध है कि **'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्'**—'बिना पूछे किसी को न बतलाये।' आजकल लोग वर्षों तक अच्छी-अच्छी बातें सुनते हैं, पढ़ते हैं और कहते हैं; परन्तु अधिकार के अनुरूप न होने के कारण उस का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए अपनी रुचि, प्रवृत्ति और अधिकार के प्रकाश के लिए अपने हृदय की बात अवश्य पूछनी चाहिए।'

जिज्ञासु—'भगवन्, महात्मा लोग तो स्वयं ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी होते हैं। वे बिना पूछे भी सब कुछ जानकर अधिकार के अनुसार उपदेश कर देते हैं।'

महात्मा जी—'वैसे तो सर्वज्ञ, शक्तिमान् एवं परम दयालु परमात्मा सबके हृदय में ही बैठे हुए हैं; परन्तु उनसे भी प्रार्थना करनी पड़ती है। यद्यपि वे सबको स्वीकार किये हुए हैं, फिर भी उस स्वीकृति से न जीव के दुःख की निवृत्ति होती है और न तो सुख-शान्ति का अनुभव ही होता है। 'उन्होंने स्वी-

कार कर लिया'—इस भाव का उदय आत्म-निवेदन करने के पश्चात् ही होता है। इसी प्रकार यद्यपि महात्मा पुरुष सबके कल्याण का ही उपदेश किया करते हैं; फिर भी यह उपदेश मेरे लिए है, इस बात का निश्चय प्रश्न से ही होता है। यदि बिना पूछे ही किसी उपदेश को ऐसा मान लिया जाय कि यह मेरे लिए है तो आगे चलकर यह शङ्का हो सकती है कि 'शायद वह उपदेश मेरे लिए रहा हो या न रहा हो।' अपने मन की मान्यता पर विश्वास कर लेना खतरे से खाली नहीं है; क्योंकि मन की गति अनिश्चित है। इसलिए अपने सम्बन्ध में प्रश्न कर के सर्वदा के लिए पक्का निश्चय कर लेना चाहिए। देखो, शास्त्र में यह बात स्पष्ट रूप से आती है कि एक बार भगवन्नाम के उच्चारण, श्रवण अथवा स्मरण से परम पद की प्राप्ति हो जाती है। यथा—

यन्नामैकं कर्णमूलं प्रविष्टं
वाचान्विष्टं चेतनासु स्मृतं वा।
दग्ध्वा पापं शुद्धसत्त्वात्तदेहं
कृत्वा साक्षात् संविधत्तेऽनवद्यम्॥

(सात्वततन्त्र, नवम पटल श्लो० ५८)

'भगवान् के एक नाम के श्रवण, उच्चारण अथवा स्मरण से समस्त पाप भस्म हो जाते हैं, शरीर दिव्य हो जाता है और शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है। केवल नाम के सम्बन्ध में ही नहीं, नमस्कार के सम्बन्ध में भी ऐसी बात आती है कि जिसने एक बार भी भगवान्‌को नमस्कार कर लिया, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वेदान्त-शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा जाता है कि आत्मा तो नित्य मुक्त ही है, बद्धता एक भ्रम है। यद्यपि मुक्ति इतनी सरल, सुगम और नित्य प्राप्त है

फिर भी उसके सम्बन्ध में निश्चय न होने के कारण जीव भगवद्विमुख और विषयपरायण हो रहा है। यह उसके निश्चय की न्यूनता है। यह निश्चय स्वयं ही करना पड़ता है। किसी दूसरे के लिए कोई दूसरा निश्चयकर दे, ऐसा नहीं हो सकता। इतना ही साधक का पुरुषार्थ है। फिर तो उसके जीवन से साधना—की धारा फूट पड़ती है; उसका चलना-फिरना, हँसना-बोलना सब साधनरूप हो जाता है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, आपने अभी नाम और नमस्कार की महिमा बतलायी है। नाम की महिमा तो कई बार सुनने को मिलती है। आप कृपा करके 'नमः' की महिमा बतलाइये।'

महात्मा जी—'वास्तव में नाम और 'नमः' में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही शब्द **'नम् प्रह्वत्वे'** धातु से बनते हैं। 'प्रणाम' शब्दमें तो 'प्र' उपसर्गयुक्त 'नाम' ही है। और वास्तव में 'नाम' और 'नमः' दोनों ही भगवत्स्वरूप हैं। साधकों की तीन श्रेणियाँ मानी गयी हैं—एक तो वह जो भगवान् से अर्थ, भोग अथवा मोक्ष की प्रार्थना करता है। उसके लिए भगवान् साधन हैं और अर्थादि वस्तु साध्य है। दूसरी श्रेणी के वे हैं जो अर्थ, धर्म, क्रिया, मोक्ष आदि वस्तुओं के द्वारा भगवान्को प्राप्त करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में अन्य सब कुछ साधन है और भगवान् साध्य हैं। ये पहली श्रेणी के साधकों से अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। तीसरी श्रेणी के साधक वे हैं, जो साधन और साध्य दोनों ही रूपोंमें भगवान्के दर्शनकी चेष्टा करते हैं और दर्शन करते हैं। ये साधक तो भगवद्रूप ही हैं। इनमें श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि श्रेणियों का भेद नहीं है। इन्हें शरणागत, भगवत्प्रपन्न आदि नामों से कहा जाता है। वास्तवमें भगवान्के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं; इसलिए यह साधना, यह भाव, यह स्थिति भगवान् से

सर्वथाअभिन्न है। इसीसे 'नाम' और 'नमः' दोनों भगवद्रूप हैं। इस स्थिति में नमस्कर्ता, नमस्कार्य, नमः-शब्द, नमः-क्रिया, नमः-भाव और नमः-का ज्ञान एक ही पदार्थ हैं। और नमस्कार की यही सर्वोत्तम स्थिति है।'

जिज्ञासु—'भगवन्, नमस्कार का स्वरूप क्या है ?'

महात्मा जी—'प्रत्येक शब्दके तीन भाव होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और पर। जहाँ वह शब्द कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रयुक्त होता है अथवा कर्मेन्द्रियोंके द्वारा क्रिया में उतरता है, वहाँ उसका स्थूल भाव है। जैसे वाणी से 'नमस्कार' कहना, शरीरसे दण्डवत् करना। इस क्रिया से अपनी नम्रता प्रकट होती है। जिस को नमस्कार किया जा रहा है वह अवस्था से, जाति से, गुणसे श्रेष्ठ है; उसकी श्रेष्ठता और अपनी कनिष्ठता की स्वीकृति ही नमस्कार-क्रिया का स्थूल अर्थ है। इस क्रिया के साथ श्रेष्ठताकी सीमा बनी रहती है—यह माता हैं, पिता हैं, गुरु हैं, इत्यादि। जहाँ यह क्रिया भगवान् के प्रति प्रयुक्त होती है, वहाँ उनकी असीम श्रेष्ठता मन में आती है। इससे नियोज्य-नियोजक भाव की स्फूर्ति होती है। शरीर, मन और वाणी से उनकी आज्ञा का पालन हो; मेरा रोम-रोम उनके इशारे पर नाचता रहे, उनके अनुकूल क्रिया हो, उनकी सेवा हो, उनके प्रतिकूल अथवा सेवा से रहित कोई भी क्रिया न हो। इस प्रकार नमस्कार-क्रिया के द्वारा अनुकूलता का सङ्कल्प और प्रतिकूलता के वर्जन का भाव दृढ़ होता है; अपनी अल्पज्ञता, अल्पशक्तिता और अल्पसुखता का भान होता है और भगवान् के पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति एवं पूर्ण सुख का चिन्तन होने लगता है। इस समय यही निश्चय होता है कि वे अंशी हैं, मैं अंश; वे शेषी हैं, मैं शेष; वे सेव्य हैं, मैं सेवक। वे ही मेरे रक्षक हैं, हमेशा से रक्षा करते

आये हैं और करेंगे। मैं उनकी शरणमें हूँ। इस प्रकारके भाव का उदय 'नमः' शब्द का सूक्ष्म अर्थ है।

'बेटा ! जीव अज्ञान के कारण अनादिकालीन वासनासे विजड़ित होकर क्रिया, भावना की प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि में अपने को स्वतन्त्र मानने लगता है और स्थिति, भाव, क्रिया एवं पदार्थों पर ममत्व कर बैठता है। इसकी निवृत्ति से ही अर्थात् अहङ्कारमूलक स्वातन्त्र्य और ममता के नाश से ही भगवत्प्राप्ति होती है। 'नमः' पदमें ममता और अहङ्कारकी निवृत्ति ही भरी हुई है। ये अहङ्कार और ममता मेरे नहीं हैं इस प्रकार की वृत्ति का उदय होने पर 'नमः' पद के सूक्ष्म अर्थ का साक्षात्कार होता है। 'म' का अर्थ है अहङ्कार और ममता, 'न' का अर्थ है उनका अभाव। नमस्कार का सीधा अर्थ है— 'हे प्रभो ! जिन वस्तुओं को भूल से मैं अपनी मानता था, वे तुम्हारी हैं; स्वयं मैं भी तुम्हारा हूँ।' शास्त्र कहते हैं—

अनादिवासनाजातैर्बोधैस्तैस्तैर्विकल्पितैः ।
रूषितं यद्दृढं चित्तं स्वातन्त्र्यस्वत्वधीमयम् ॥
तत्तद्वैष्णवसार्वात्म्यप्रतिबोधसमुत्थया ।
नम इत्यनया वाचा नन्त्रा स्वस्मादपोह्यते ॥

(अहिर्बुध्न्यसंहिता ५२। ३० ३१)

अनादिकालीन वासनाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यावहारिक ज्ञानों का उदय हुआ करता है। उनके दृढ़ संस्कार से चित्त में अपनी स्वतन्त्रता और स्वत्व का भाव जम जाता है। सब कुछ भगवान् का ही है—इस प्रकार उस व्यावहारिक ज्ञान का विरोधी परमार्थिक ज्ञान उदय होता है, तब उसी भावको लेकर 'नमः' इस पदका उच्चारण होता है, इसके द्वारा नमस्कर्ता अपने पूर्वोक्त दोनों भावों को निकाल फेंकता है। तब नमस्कार

का अर्थ क्या है ?–अहङ्कार और ममता को निकाल फेंकना। इनके निकलते ही भगवद्भाव की अनुभूति होने लगती है। वह अनुभूति केवल बौद्धिक अथवा मानसिक नहीं रहती, समस्त इन्द्रियों और रोम-रोम से उसका अनुभव होने लगता है। तब अपना अन्तःकरण, शरीर एवं सारा जगत् भगवान् का और भगवन्मय दीखता है। यह 'नमः' पद स्थिति है और यही उस का परम अर्थ है। तब शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जीव का जो कुछ वास्तविक स्वरूप है वह भगवत्प्रेरित, भगवन्मय और भगवत्स्वरूप से स्फुरित होने लगना है। 'भगवान् की कृपा की, प्रेम की, तत्वज्ञानकी और समाधि की यही स्थिति है। यह 'नमः पद के उच्चारण मात्र से प्राप्त होती है।'

जिज्ञासु—'भगवन् ! इसके सम्बन्ध में कोई अनुभव सुनाइये !'

महात्मा जी—'एक बार मैं अपने गुरुदेव के सम्मुख बैठा हुआ था। मैंने प्रार्थना की गुरुदेव,—आप कहते हैं कि आत्मसमर्पण एक ही बार होता है, वह कैसा आत्मसमर्पण है ? वही करवा दीजिये न ? गुरुदेव ने कहा—अच्छी बात,करो। संसार की सभी वस्तुएँ भगवान् के चरणों में अर्पित हैं। वे सदा से अर्पित हैं ही। उन्हें अनर्पित समझना अज्ञान था। ये भगवान् की हैं, इस ज्ञान से वह निवृत्त हो गया न ? मैंने कहा—निवृत्त हो गया। उन्होंने पूछा—अच्छा, यह शरीर किसका ? मैंने कहा—उनका। गुरुदेव ने कहा—अच्छा, यह समझ किसकी ? मैंने कहा— मेरी। वे हँसने लगे। उन्होंने कहा—यह समझ भी दे डालो। मैंने कहा—ठीक है। अब तक जो कुछ समझ रहा हूँ या समझूँगा, सब उनकी लीला, सब वे। उन्होंने कहा— उतने से ही आत्मसमर्पण नहीं हुआ। 'मैंने समर्पण

किया'—यह भाव भी छोड़ना होगा। उन्होंने ग्रहण किया, यह भाव भी नहीं बनता। समर्पण और ग्रहण दोनों ही असमर्पित अगृहीत वस्तु के सम्बन्ध में होते हैं। भगवान् के लिए वैसी कोई वस्तु नहीं है। तुम्हारे मन में जो असमर्पित, अगृहीत की भावना थी वह निवृत्त हुई। अब तुम स्वयं अपने-आपको समर्पित करो। मैंने कहा—यह मैंने अपने-आपको भगवान् के चरणों के समर्पित किया। गुरुदेव ने हँसकर कहा—इस समर्पण-क्रिया अथवा भावना का कर्ता कौन है? मैंने कहा—मैं उन्होंने कहा—तब समर्पण कहाँ हुआ? तुम अपनी की हुई समर्पण-क्रिया अथवा भावना को बदल भी सकते हो। इसलिए 'मैं असमर्पित हूँ' इस अज्ञानकी अभी पूर्णतः निवृत्ति नहीं हुई। देखो! मैं और सब कुछ—जो कुछ था, है और होगा—सब भगवान् को समर्पित है, भगवन्मय है और भगवत्स्वरूप है। समर्पणक्रिया अथवा भावना नहीं करनी है। अपनी क्रिया और भावना के कर्तृत्व को मिटा दो। वास्तव में मिटाना भी नहीं है। मिटा हुआ है। देखो, देखो, तुम्हारा भी तो नहीं है।' गुरुदेव इस प्रकार कह रहे थे और मैं एक अनिर्वचनीय स्थिति में प्रवेश करता जा रहा था। मैंने सुख का समुद्र देखा, शान्तिका साम्राज्य देखा और ज्ञान का असीम आलोक देखा। सुख, शान्ति और ज्ञान का नाम तो इस समय की दृष्टि से है। वस्तुतः परमात्मा के स्वरूप में सुख-शान्ति और ज्ञान कहने के लिए भी कुछ नहीं है। वस्तुएँ, क्रियाएँ, इन्द्रियाँ और उनका अभाव—सब परमात्मा से एक हो गया। वह नमस्कार की वास्तविक स्थिति थी।'

जिज्ञासु—'फिर आपकी वह स्थिति बदली या नहीं? वहाँ से उठने पर गुरुदेव ने क्या आदेश दिया?'

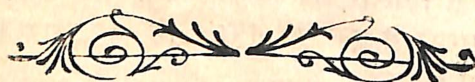
महात्मा जी—'वह स्थिति तो एक रस है। वह स्मृति-विस्मृति, जीवन-मरण, सब में एक-सी रहती है। उसमें विक्षेप और समाधि एक हैं। वह कुछ भी नहीं है और वही सब कुछ है। थोड़ी देर के बाद अब मुझे बाह्य ज्ञान हुआ, तब गुरुदेव ने कहा—जाओ; अब तुम अपने जीवन के द्वारा; मन, वाणी और शरीर के द्वारा निरन्तर भगवान् की आराधना, उनके नाम का जप करते रहो। भगवान् की आराधना, क्या है?

रागाद्यदुष्टं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितः कायः केशवाराधनं त्रयम्॥

(प्रपन्नपारिजात)

'अन्तःकरण में राग-द्वेष न हो; वाणी में असत्य, कटुता आदि न हो और शरीर से हिंसा आदि न हो—यही भगवान्‌की आराधना है।' मैं तभी से भगवान् की इच्छाके अनुसार नर्मदा तट पर रहता हूँ, उनके इच्छानुसार कृष्ण-कृष्ण का जप करता रहता हूँ। सब ओर भगवान् के ही दर्शन हो रहे हैं।'

जिज्ञासु—'भगवन्, मैं तो आपके श्रीचरणों में नमस्कार करता हूँ। आपके श्रीचरणों की प्राप्ति ही मेरे लिए भगवत्-प्राप्ति है।' नर्मदा जी अनवरत बह रही थीं, चन्द्र आकाश के मध्य भाग की ओर आ रहे थे, लहरें लहरा रही थीं, हवा चल रही थी और जिज्ञासु महात्मा जी के चरणों पर गिर कर भगवत्स्पर्श का आनन्द ले रहा था।



—मोक्षसंन्यासयोग—

—अर्थात्—

श्रीगीताजीका—१८ वाँ अध्याय



—व्याख्याकार—

ब्रह्मलीन श्री नारायण स्वामी जी

(गताङ्क से आगे)

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

卐 श्लोक-२१ 卐

卐卐卐卐卐卐卐卐卐卐

सम्बन्ध—अब भगवान् राजस ज्ञान का स्वरूप वर्णन करते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥

अर्थ—पर जो ज्ञान पृथक्-पृथक् रूप से सब भूतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नाना भावों को जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! जिस ज्ञान द्वारा पुरुष इन सब नाना प्रकार के पदार्थों में भिन्न-भिन्न रूप से नाना भावों को देखता है और पूर्ववत् एक अखण्ड वा निर्विकार भाव को नहीं देखता, उस ज्ञान को तू राजस जान । अर्थात् जो ज्ञान इन ऊपर से परस्पर भिन्न-भिन्न पदार्थों में एकता को नहीं जानता, बल्कि सब प्राणियों की देह में रहने वाले एक आत्मा को जो नाना प्रकार से भिन्न-भिन्न दर्शाता है, उसे राजस ज्ञान कहते हैं । संक्षेप से तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान सब परस्पर भिन्न पदार्थोंमें उनकी भीतरी एकता को दर्शाता है, वह सात्त्विक ज्ञान है और जो ज्ञान सब पदार्थोंमें अनेकता दर्शाता है, वह राजस ज्ञान है ।

श्लोक-२२

सम्बन्ध—अब भगवान् तामस ज्ञान का स्वरूप

वर्णन करते हैं—

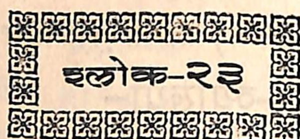
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२॥

अर्थ — और जो (ज्ञान) एक कार्य में परिपूर्ण अर्थवत् आसक्त, युक्ति से रहित, मिथ्या अर्थ के समान और तुच्छ है, वह (ज्ञान) तामस कहलाता है ।

—व्याखया—

हे अर्जुन ! जिस ज्ञान के कारण पुरुष किसी एक कार्य (पदार्थ, देह वा प्रतिमा) में निष्कारण ऐसा आसक्त हो जाता है; अथवा जो ज्ञान, बिना प्रयोजन के पुरुष को किसी एक वस्तु वा मूर्ति में ऐसा आसक्त कर देता है कि उसे वही वस्तु वा मूर्ति परिपूर्ण अर्थ देने वाली दिखाई देती है अर्थात् वह तब ऐसा समझने लगता है कि "बस, यही वस्तु या मूर्ति हो सब कुछ है, यही आत्मा है, यही ईश्वर है, इससे परे और कुछ नहीं है, इसी से सब अर्थों की सिद्धि होती है, इत्यादि" जैसे चारवाक वाले देह को और मूढ़ पुरुष एक पाषाणादिरूप प्रतिमा को ही सब कुछ समझ लेते हैं और जो ज्ञान बिना युक्ति, प्रमाण और उत्पत्तिरूप हेतु के है अर्थात् निर्मूल वा निष्कारण है और जो ज्ञान मिथ्या

अर्थ के समान है अर्थात् जिस ज्ञान का विषय तत्त्वार्थ नहीं अथवा जो परमार्थ वा यथार्थ विषय वाला नहीं अथवा जिसमें कुछ तत्त्वार्थ नहीं बल्कि जो झूठा और बेबुनियाद है और जो इसीलिये तुच्छ है, ऐसा ज्ञान तमोगुणी कहलाता है।



सम्बन्ध—अब भगवान् गुण-भेद से तीन प्रकार का कर्म कहते हैं, पहले सात्त्विक कर्म निरूपण करते हैं—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

अर्थ—जो नियत (कर्म) आसक्ति से रहित, बिना राग-द्वेष के और फल न चाहने वाले पुरुष से किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! जो कर्म नियत हो अर्थात् जो अपनी उन्नति-निमित्त नियत किया हुआ हो या जो शरीर-यात्रा-निमित्त अवश्य कर्तव्य हो या जो अपने वर्णाश्रमा-

नुसार उचित और अवश्य कर्तव्य कर्म हो अथवा जो नित्य कर्म हो या जो स्वधर्मानुसार नियत अर्थात् नियुक्त किया हुआ कर्म हो। जो कर्म सङ्गरहित हो अर्थात् जिस कर्म के साथ उसके कर्ताकी कोई आसक्ति वा सङ्ग भीतर से न हो अथवा जो कर्ता के अपनत्वके लगाव या अहंकृत-भाव से रहित हो या जिस कर्म में कर्ता को कर्तृत्व-भाव या कर्म करने का अभिमान किञ्चिन्मात्र न हो। जो बिना राग-द्वेष के हो अर्थात् जिस कर्म में कर्ता की प्रीति वा अप्रीति किञ्चिन्मात्र न हो अथवा जो कर्म किसी प्रकार के राग और द्वेष की प्रेरणा से न किया हुआ हो, बल्कि जो कर्तव्य समझ कर निरासक्त बुद्धि से किया गया हो और जो फल न चाहने वाले निष्कामी पुरुषों से किया हुआ हो, ऐसा कर्म सात्त्विक कहलाता है।



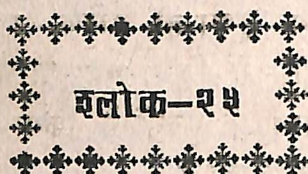
सम्बन्ध—अब भगवान् राजस कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

अर्थ—पर जो कर्म फल-कामना वाले से अहङ्कार के साथ और अति क्लेश से किया जाता है, वह राजस कहलाता है।

-व्याख्या-

हे अर्जुन! जो कर्म स्वर्गादि फलों की इच्छा वाले सकाम पुरुष से, अहंकृत भाव के साथ (या कर्तृत्व भाव के अभिमान से युक्त हो कर) किया जाता है और जो अति क्लेश वाला होता है अर्थात् जिस कर्म में फल से अधिक दुःख वा परिश्रम उठाना पड़ता है। ऐसा कर्म राजस कहलाता है।



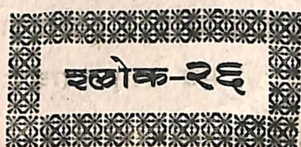
सम्बन्ध—अब भगवान् तामस कर्म का स्वरूप वर्णन करते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

अर्थ—अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष की परवाह न कर के जो कर्म मोह से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहलाता है।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! अनुबन्ध (आगे होने वाला अशुभ फल वा परिणाम), क्षय (शारीरिक सामर्थ्य तथा धनादि का विनाश), हिंसा (परपीड़ा वा प्राणियों की पीड़ा) और पौरुष (कर सकने की शक्ति, बल, सामर्थ्य वा पुरुषार्थ), इन चारों का विचार न कर के जो कर्म मारे मोह (अविवेक वा मूर्खता) के किया जाता है, वही तामस कहलाता है। दूसरे शब्दों में तामस कर्म वह है, जो मोह से बिना इन बातों का विचार किये आरम्भ किया जाता है कि इस कर्म का अनुबन्ध अर्थात् परिणाम आगे क्या होगा, पौरुष अर्थात् अपना सामर्थ्य कितना है और (होनहार में) नाश अथवा हिंसा होगी या नहीं।



सम्बन्ध—अब भगवान् सात्त्विकादि गुण-भेद से तीन प्रकार का कर्ता निरूपण करते हैं, पहले सात्त्विक कर्ता का वर्णन करते हैं—

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥

अर्थ—मुक्त-सङ्ग, अनहंवादी, धृति और उत्साहसे युक्त और सिद्धि-असिद्धि में निर्विकार कर्ता सात्विक कहलाता है।

—व्याख्या—

हे अर्जुन! जो कर्म का करने वाला मुक्त-सङ्ग हो अर्थात् जिस कर्ता का कर्म के साथ अथवा कर्म-फल के साथ कोई लगाव वा आसक्ति न हो, जो अनहंवादा हो अर्थात् जो कभी इस प्रकार अभिमान का वचन न कहता हो कि मैं कर्म का कर्ता हूँ या अमुक काम को मैंने ही किया है, मेरे बिना वह काम हो ही नहीं सकता था इत्यादि अथवा जो अपने गुणों की श्लांघा न करता हो, जो धैर्य और उत्साह, हिम्मत, हौसला वा उमङ्ग से भरा हुआ हो और जो सिद्धि-असिद्धि (लाभ-हानि, जीत-हार, फलकी प्राप्ति) में हर्ष-विषादादि विकार से रहित हो अर्थात् जो सर्व दशा में एकरस रहने वाला हो, ऐसा कर्ता सात्विक कहलाता है।



श्लोक—२७



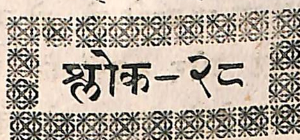
सम्बन्ध—अब भगवान् राजस कर्ता का स्वरूप वर्णन करते हैं।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

अर्थ—रागी, कर्म-फल का चाहने वाला, लोभी, हिंसात्मक, अपवित्र और हर्ष-शोक से युक्त कर्ता राजस कहलाता है ।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! जो कर्म करने वाला रागी हो अर्थात् कर्म अथवा विषयों में राग (प्रीति वा आसक्ति) रखने वाला और इसी कारण कर्म-फल की इच्छा वाला हो, जो लोभी हो अर्थात् पराये धन की अभिलाषा करने वाला हो, जो हिंसात्मक हो अर्थात् जो स्वभाव से ही दूसरों को दुःख वा पीड़ा देने वाला, सर्व प्रकारसे तङ्ग करने वाला या क्रूर (बेरहम) हो, जो भीतर-बाहर से अपवित्र हो अर्थात् मन और शरीर से मलिन हो और हर्ष-शोक से भरा हुआ हो अर्थात् जो सिद्धि के समय हर्षवान् और असिद्धि के समय शोकातुर हो जाता हो, ऐसा कर्ता राजस कहलाता है ।



सम्बन्ध—अब भगवान् तामस कर्ता का स्वरूप

वर्णन करते हैं—

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥

अर्थ—अयुक्त, असभ्य, अनम्र, शठ, द्रोही, आलसी, विषादी और दीर्घसूत्री कर्ता तामस कहलाता है।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! जो कर्म करने वाला अयुक्त हो अर्थात् जो असावधान, चञ्चल चित्त हो अथवा विषय-लम्पट होने से कर्म करने के योग्य न हो अथवा जिसका चित्त कर्म में न लगता हो; जो असभ्य वा गँवार हो अर्थात् जो मूढ़ बालक के समान प्रकृति के अधीन और धर्मादि संस्कारों से रहित बुद्धिवाला हो, जो अनम्र हो अर्थात् हठी, ढीठ, ज़िद्दी, उजड्ड, कठोर स्वभाव और जो गुरु-देवता के आगे भी न झुकनेवाला, बल्कि गर्व से फूलने वाला हो; जो शठ हो अर्थात् ऊपर से तो वेदोक्त कर्म कर रहा हो, परन्तु भीतर से दूसरों को धोखा दे रहा हो अथवा जो ठग वा मायावी हो, जो द्रोही हो अर्थात् चुग़लखोर, कीनावर और दूसरों की आजीविका का उच्छेदन करने वाला हो अथवा जो दूसरों की हानि करने वाला हो, जो आलसी हो अर्थात् अवश्य करने

योग्य कर्म में भी जो न प्रवृत्त होने वाला हो, जो विषादी हो अर्थात् जो अप्रसन्नचित्त वा असन्तुष्ट स्वभाव वाला होने से निराश या शोकग्रस्त हो और जो दीर्घ-सूत्री हो अर्थात् जो ढिलमट्ठु करने वाला अथवा एक घड़ी के काम को महीने-भर में करने वाला हो या कामों को उलसेट में डालने वाला हो, ऐसा कर्ता तामस (तमोगुणी) कहलाता है।



सम्बन्ध—अब भगवान् बुद्धि और धृति के भेदों को सुनने की ओर अर्जुन की वृत्ति खींचते हैं—

अथवा (२) ऊपर जो श्लोक २६ में सात्त्विक कर्ता के लक्षण में "मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साह-समन्वित:" आया है अब उस धृति और बुद्धि को सात्त्विकादि गुण-भेद से भगवान् तीन प्रकार का वर्णन करने लगे हैं, जिससे अर्जुन का ध्यान सुनने की ओर आकर्षण करते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥२९॥

अर्थ—हे अर्जुन ! बुद्धि और धृति के भेद भी, जो गुण-भेदसे तीन प्रकार के हैं और सब अलग-अलग कहे जा रहे हैं, उनको तू सुन।

—व्याख्या—

हे अर्जुन ! बुद्धि (निश्चय करने वाली इन्द्रिय, वा अन्तःकरण अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि) और धृति (धारण करने वाली क्रिया-शक्ति अथवा उसी बुद्धि की वृत्ति विशेष वा धैर्य) इन दोनों के भेद भी सात्त्विक आदि गुण-भेद से तीन प्रकार के हैं, जो सारे-के-सारे अलग-अलग आगे छः श्लोकों में कहे जाने हैं अथवा जो मैं न्यारे-न्यारे सम्पूर्णतया अब कहने लगा हूँ, सो तू उनको भी ध्यान देकर सुन।

(शेष आगामी सप्ताह)



ध्यान और जीवन

—लेखक—

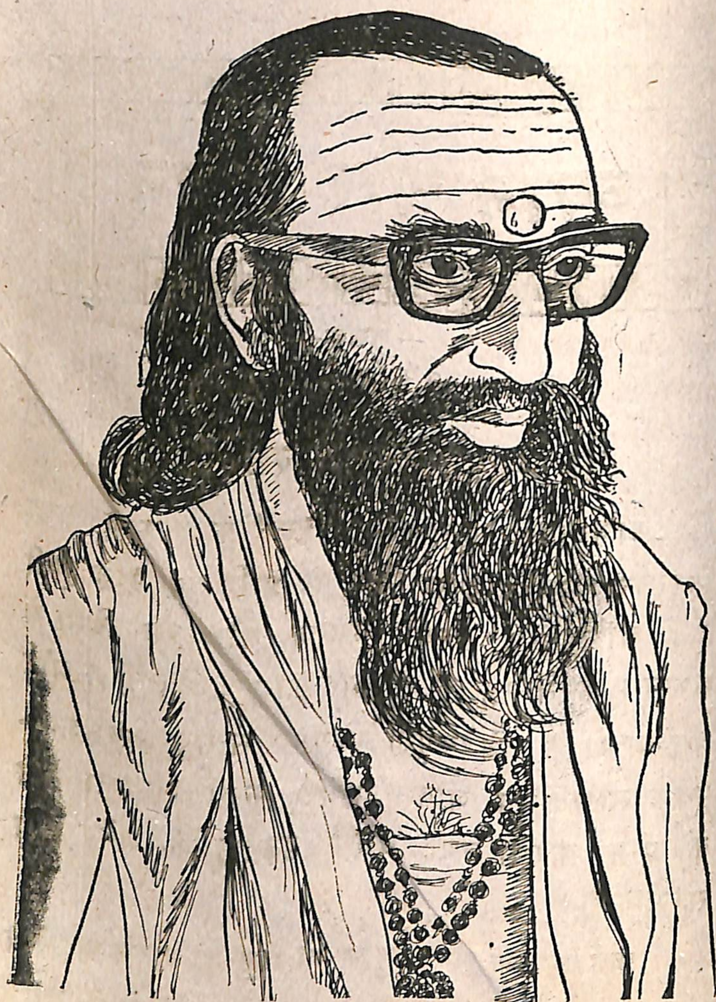
स्वामी चिन्मयानन्द जी

* सफलता का रहस्य *

लाभदायक पुस्तकों, पारस्परिक सम्पर्क तथा निरन्तर अभ्यास द्वारा विद्या की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है। सांस्कृतिक ग्रन्थों, समाज और इस दिशा में अभ्यास करते रहने से संस्कृति को पुष्टि मिलती है और धर्म-ग्रन्थों के विवेकपूर्ण अध्ययन, सत्सङ्ग तथा ज्ञान-पूर्वक साधनामय जीवन व्यतीत करने से ध्यानावस्था को प्राप्त करना तथा उसमें दृढ़तापूर्वक लगे रहना सम्भव है।

कई साधक आत्म-तुष्टि को अनुभव करने के लिये सुगम तथा सुलभ उपायों को खोज में रहते हैं। ऐसे व्यक्ति प्राय: दुर्लभ हैं जो निश्चित् कार्यक्रम के अनुसार

—वेदान्त केसरी—



स्वामा चिन्मयानन्द जी

अध्यात्म-क्षेत्र में शीघ्रता से प्रगति कर सकते हैं। धर्म के ठेकेदार और आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कपट-जाल फैलाने वाले बहुत मनुष्य उनकी शरण में जाने तथा भेंटस्वरूप उन्हें बहुत कुछ अर्पण करने वाले भक्तों को अनेक प्रलोभन देने में लगे रहते हैं। हमारे देश में तो इस प्रकार के मरीचिका-सदृश बढ़ते प्रलोभनों का खुले आम प्रदर्शन किया जाता है और शास्त्रों से अनभिज्ञ भोली-भाली जनता ऐसे अनाड़ियों की बातों में तुरन्त आ जाती है। ऐसे भोले लोगों पर हमें दया आती है किंतु धर्म के इन झूठे ठेकेदारों की हमें निन्दा नहीं करनी चाहिये क्योंकि उनका व्यापार तो हमारी अपनी दुर्बलताओं के कारण ही चल रहा है। वास्तव में दोष हमारा है, अतः हमें स्वयं इस पर ध्यान देना चाहिये।

यह प्रश्न तो इस बाज़ार में जुटाई गई सामग्री की 'मात्रा' तथा उसके लिये होने वाली 'मांग' से सम्बन्ध रखता है। हमें तो 'महात्माओं' से केवल सांसारिक सुख-साधनों (धन, सन्तान, उन्नति, वैभव, रहस्यपूर्ण औषधियों, मन्त्र-तन्त्र आदि) की अभ्यर्थना करनी आती है। आप बम्बईमें ही देखिये। ज्यों ही कोई 'साधु-महात्मा' विक्टोरिया टर्मिनस स्टेशन पर गाड़ी से उतरता है, उससे भेंट करने के लिये लालायित सेठ, धनी मानी,

एजेण्ट, क्लर्क, व्यापारी तथा गाड़ीवान सभी उसके पीछे हो लेते हैं। वे यह जानने के लिये उत्सुक दिखाई देते हैं कि उस दिन रात्रि के समय कपास के एक्स्चेंज मार्कीटमें कौन नम्बर निकलेगा अथवा आनेवाली घुड़-दौड़ में किस नं० का घोड़ा विजयी होगा। यदि समाज की ओर से ऐसी माँगें की जाती हैं तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। यदि कुछ साहसी युवक इस वेषभूषा से सुसज्जित हो कर इन मूर्खों को कोई नम्बर बता दें और अपनी 'दक्षिणा' ले कर नौ दो ग्यारह हो जाये। इस देश की महानता तथा ऋषियों द्वारा प्रदत्त संस्कृति के कारण ऐसे पाखण्डियों की संख्या आजकल भी इतनी अधिक नहीं है। यदि यह प्रवृत्ति कहीं अमेरिका में पाई जाती तो अब तक आधे से अधिक देश संन्यास धारण कर के दूसरों को बिना किसी कठिनाई के ठग चुका होता।

यदि मैं आप से यह कहूँ कि आध्यात्मिकता में क्षेत्र से सरल तथा सुलभ मार्ग की खोज करना दम्भ तथा पाखण्ड को प्रोत्साहन देना है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। कोई सच्चा गुरु आपको ऐसा मार्ग नहीं दिखा सकता। यदि आप इस यात्रा में शीघ्र सफल होना चाहते हैं तो सब से सुगम उपाय अहंभाव

को दो भागों में विभक्त कर के इनके बीच से हो कर अपने भीतर के 'सत्य' साम्राज्य की ओर प्रस्थान करना है।

उपरोक्त साधनों को नियमपूर्वक प्रयोग में लाते रहने से हम अपने व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक कारणों द्वारा अनुभव में आने वाली अव्यवस्थाओं को दूर कर के इस मार्ग की प्रायः सभी कठिनाइयों पर विजय पा सकते हैं। इस अध्यात्म मार्ग के सच्चे यात्री को अभ्यास करते रहना चाहिये। स्मरण रहे कि किसी रोगी का इस कारण रोगमुक्त होना असम्भव है कि उसने एक बड़ी अमूल्य-औषधि प्राप्त कर ली है। उस के लिये आवश्यक है कि वह निर्दिष्ट मात्रा में उस औषधि का प्रयोग करता रहे और पथ्य द्वारा उसे पचानेको क्षमता भी रखता हो ताकि वह उसके शरीर के रोम-रोम में पहुँच कर अपना चमत्कार दिखा सके। ठीक इसी प्रकार हमारे दूषित व्यक्तित्व से होने वाली व्याधियों का निदान केवल उचित साधन, ज्ञान तथा न्यायशास्त्र विहित उपायों को जानने से ही नहीं हो सकता। हमें इनके साथ-साथ असत्य तथा सत्य मार्ग का आश्रय लेते रहना चाहिये।

इतना कहने के बाद साधक को यही परामर्श

दिया जाता है कि वह प्रतिदिन सच्चे मन से अभ्यास करता रहे और अपने जीवन के हर श्वास के साथ सत्य-सनातन प्रभु के पवित्र नाम की माला जपता रहे। संसार की इस नाट्यशाला में प्रभु द्वारा निर्धारित कर्त्तव्य-पथ का अनुसरण करते हुए वह इस बात को कभी न भूले कि उसका महान् ध्येय कुछ और है और उसे प्राप्त करना परमावश्यक है। हमारे जीवन को नाट्यशाला के सर्वेसर्वा तथा सूत्रधार भगवान् द्वारा सौंपे गये कार्य को उसकी आज्ञानुसार करते रहना चाहिये। प्रभु के आदेश धर्म-ग्रन्थों में संहिताबद्ध हैं और वे हमें अपने जीवन को उच्च स्तर पर ले जाने का उपदेश देते हैं। यही जीवन के धार्मिक तथा नैतिक नियमोंसे सम्बन्ध रखते हैं। दया, प्रेम तथा समझदारी से अपना जीवन व्यतीत कीजिये।

नियमपूर्वक अभ्यास करते तथा जीवन के वास्तविक उद्देश्य को सामने रखते हुए हमें उन्नत जीवन की ओर अधिक-से-अधिक अग्रसर होते रहना चाहिये। जीवन की पाशविक तथा प्रवृत्तियों का हम जितना अधिक त्याग करेंगे उतना ही हमारा मन इनकी वास्तविकता तथा सत्यता की ओर आकर्षित होता जायेगा। एक ओर का त्याग दूसरी ओर आकर्षित करता है।

त्याग तो वास्तव में उन्नति का सूचक है। उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने के लिये हमें 'वर्तमान स्थिति' का परित्याग करना होगा। हमारे जीवन का 'प्रतिक्षण' 'जन्म' तथा 'मृत्यु' से परिपूर्ण है। हम सदा 'वर्तमान' का त्याग कर के 'भविष्य' के स्वागत में तत्पर रहते हैं। यदि हम अपने वर्तमान स्थान से पग न उठायेंगे तो हमारे लिये आगे बढ़ना किस तरह सम्भव होगा? सीढ़ी पर चढ़ने के लिये उसके निचले भाग का परित्याग कर के ऊँचे चढ़ते हुए ही हम शिखर पर पहुँच सकते हैं। चलते समय हम प्रति पग आगे बढ़ते और चले हुए मार्ग का परित्याग करते रहते हैं। ऐसे ही हम अपने सूक्ष्मतम ध्येय (आत्मा) की ओर अग्रसर होते हुए अनुभव करते हैं।

आइये, हम स्वार्थ, अहङ्कार, लोभ और वासना से सम्बन्धित मृग-तृष्णा की खोज में अपना जीवन नष्ट न कर के इनके विपरीतार्थ उच्च गुणों को ग्रहण करते हुए जीवन-मार्ग पर उन्नतिशील हों। जो इस साधन को निष्ठापूर्वक अपनाता है वह स्वयं अपनी आशु सफलता पर आश्चर्य करता है। अध्यात्म-मार्ग की सभी बाधायें हमारे अपने दोषों के कारण आती हैं। साधना के प्रयोग तथा इसके वास्तविक स्वरूप को समझ लेने

से हम अपने निर्धारित ध्येय की ओर बढ़ सकते हैं।

आजकल हम स्वभाव से ही जीवन के मिथ्यात्व को अपनाये हुए हैं क्योंकि हमें यह भ्रांति है कि यह संसार सत्य-स्वरूप है तथा विषय-वासना द्वारा हमें कभी-न-कभी अधिक आनन्द की प्राप्ति होगी ही। यह भावना सर्वथा हास्यास्पद तथा निरर्थक है। सांसारिक पदार्थों से आनन्द प्राप्त करने की आशा करना स्वप्न में पाये हुए धन के समान है और इस सत्य पर जितना अधिक हम विश्वास रखेंगे, उतना अधिक हम संसारके मिथ्या तथा नाशवान् (किंतु मनमोहक) पदार्थों का त्याग कर सकेंगे। बाह्य जगत् से विरक्त होने पर ही हम अपने भीतर संसार में आसक्त हो सकते हैं।

साधना में सफलता हमारे शुद्धाचार पर निर्भर है। उन्नति की ओर ले जाने वाला जीवन बिताने से साधना में सफलता मिलती है। इस आदर्श जीवन की उपनिषदोंमें सविस्तर व्याख्या की गई है। कठोपनिषद् में तो जीवन की 'रथ' के साथ बड़े सुन्दर शब्दों में तुलना की गई है।

अध्यात्म-विद्या के अनेक विवेकहीन छात्र, जो शास्त्रविहित रहस्य को समझने के लिये केवलमात्र

अध्ययन को अपना आधार बनाते हैं, बिना सोचे यह समझ बैठते हैं कि वेदान्त द्वारा इङ्गित साधन उन्हें न कोई लाभ पहुँचा सकते हैं और न ही पहुँचायेंगे। मुझे कई ऐसे व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिला है जो यह सिद्ध करने में अपनी शक्ति का अपव्यय करते रहते हैं कि 'साधना' में प्रवृत्त साधक दैनिक अभ्यास करते रहने से अपने जीवन में असफल होता है! इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण धारणा हमारे प्रगतिशील हिन्दु धर्म की अधोगति का मूल कारण है, जिसमें मनुष्य को गौरव-मय, सफल तथा आदर्श जीवन की ओर संकेत किया जाता है। वेदान्त को किसी रूप में भी अन्धविश्वास तथा निष्क्रियता को प्रोत्साहन देने वाला साधन नहीं कहा जा सकता। यह तो एक ऐसा रुचिकर सत्य-मार्ग है जिस पर चल कर मनुष्य अपनी तथा समाज की उन्नति और प्रसन्नता की योजना बना सकता है। यह जीवन के आवश्यक अङ्गों से सम्पर्क स्थापित कर के भी अदृश्य की ओर संकेत करता है। यह कह कर वेदान्त की निन्दा करना कि यह हमारे जीवन को अशान्तिपूर्ण बनाता है उस विचारहीन बालक के सदृश वृथा बकवाद करना है जो घबरा कर इधर-उधर भटकता फिरता है। ऐसे व्यक्तियों के अपरिपक्व मन

तथा बुद्धि इसके वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन नहीं कर सकते।

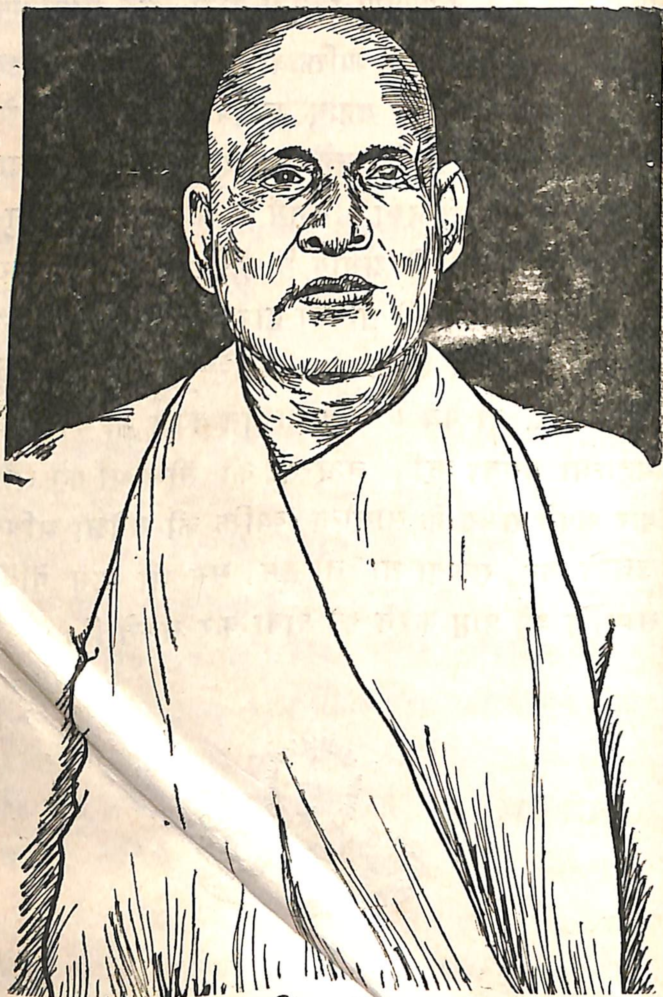
हमारे दैनिक जीवन में भी जितनी अधिक एकाग्रता का समावेश होगा उतनी ही अधिक सफलता हमें प्राप्त होगी। जो साधक विधिपूर्वक साधना में प्रवृत्त होता है उसे एकाग्र होने में पर्याप्त सफलता मिलती है। ज्यों-ज्यों वह समाधि में एकाग्र होता है त्यों-त्यों उसे भगवान्‌की भक्ति में वास्तविक तथा नैतिक सिद्धि प्राप्त होकर अधिक मात्रामें बौद्धिक सन्तुलन और मानसिक शान्ति सुलभ होती है। इस संसार में जो व्यक्ति साधना में परिपक्वता, विवेकपूर्ण सन्तुलन, मानसिक शान्ति और शुद्धाचार से सुशोभित होता है। उसका विकसित व्यक्तित्व जीवन की सभी परिस्थितियों में एक सामान्य मनुष्य से कहीं अधिक सफलीभूत होता है। ये सामान्य गुण सब महान् मार्ग-दर्शकों में मिलते हैं, चाहे उनका कार्यक्षेत्र संसार के किसी एक भाग में सीमित क्यों न हो।

इस उद्देश्य से साधना एक यथार्थ शिक्षा प्रदान करती है जो हम में संसार की विषम परिस्थितियों तथा नश्वर प्रलोभनों का सामना करने का गुप्तमन्त्र

फूँक देती है। निष्ठापूर्ण साधना द्वारा एक साधारण पुरुष भी एक अद्वितीय व्यक्तित्वका विकास कर सकता है। संसार के सभी महान् ऋषियों की जीवनियों से हमें पता चलता है कि उन्हें साधारण शिक्षा से इतना अधिक लाभ नहीं हुआ। उनमें से अधिकतर तो अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में कोई महत्त्वशाली कार्य न कर सके; फिर भी साधना द्वारा पूर्ण विकास पाकर वे अन्त में बुद्धि, शक्ति तथा कान्ति से सुशोभित हो कर अमर हो गये। यदि प्राचीन काल में कोई एक महात्मा अथवा ऋषि नश्वरता की सीमाओं को लांघ कर अपने समय के सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उन्नति कर सकता था तो हम सब भी इस पवित्र सम्पत्ति को प्राप्त करने का दावा कर सकते हैं।



—परम हितैषी—



स्वामी शिवानन्दजी

मानसिक शक्ति

लेखक—स्वामी शिवानन्दजी महाराज

विचार : उनके प्रकार तथा उनकी विजय

(गताँक से आगे)

७. अभ्यस्त विचारों को वश में करें

अपने शरीर, वेशभूषा, खान-पान आदि बातों पर विचार करने के हम आदी हो गये हैं। उन्हें आत्मचिन्तन अथवा अपने हृदय में परमात्मस्वरूप के विचार द्वारा वश में करना चाहिए। यह दुष्कर कार्य है। इसके लिए धैर्य, सतत अभ्यास और आन्तरिक आत्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है।

श्रुतियाँ उद्घोष करती हैं : "**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**" (यह आत्मा दुर्बल को प्राप्त होने वाला नहीं है) जो निष्ठावान साधक होते हैं वे प्रापञ्चिक समस्त

विषयों से निवृत्त होकर इसके लिये अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर देते हैं।

जो सारी बासनाओं का नाश और आदत पड़े हुए विचार-समूह को समाप्त कर देते हैं वे ब्राह्मी स्थिति का अनुभव करते हैं तथा श्रद्धा, समता और शान्ति का उपभोग करते हैं। उनमें सब के प्रति समदृष्टि होती है। दुष्ट और प्रबल मन हर प्रकार का दुःख, भय, विषमता, विभिन्नता, उच्च-नीच भाव तथा भेदभाव पैदा करता है और उच्च दैवी गुणों का नाश कर देता है। इस दुःखदायी मन को समाप्त करो।

जब दृश्य और दर्शन दोनों द्रष्टा में विलीन हो जायेंगे तभी आनन्दानुभव होगा। इसका ही नाम तुरीयावस्था है। तब असीम ज्ञान और एकमात्र आत्मा ही सर्वत्र दिखायी देता है। सभी प्रकार के भेद और द्वैतभाव पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं।

आकर्षण और विकर्षण, राग और द्वेष, प्रिय और अप्रिय—इन सब द्वन्द्वों का सम्पूर्ण नाश होना चाहिये। तब योगी को शरीर का भान नहीं रहेगा, भले ही वह उसमें काम करता रहेगा। जिस प्रकार कोई कुलटा स्त्री दूरस्थ विट् के ध्यान में सदा तल्लीन

रहते हुए भी घर के सभी काम-काज ठीक से करती रहती है, उसी प्रकार वह योगी भी समस्त साँसारिक कृत्यों में लगे रहने पर भी, हर प्रकार की भ्रान्तियों और प्रलोभनों के बीच रहते हुए भी अपना संयम नहीं खोयेगा। वह सर्वदा अपना ध्यान ब्रह्म में केन्द्रित करेगा।

आप सब केवल वही सत्कार्य किया करें जो आपको ज्ञान-प्राप्ति में सहायक हों, जिससे भविष्य में साँसारिक सुख-समृद्धि का विचार न हो! ब्रह्म-प्रकाश के साम्राज्य में परिपूर्ण आलोक में समस्त द्वैतभाव, भेदभाव और अप-परभाव का उन्मूलन करके आनन्द-सागर में आप निमग्न रहें!

८. अनावश्यक विचारों का पराभव

अनावश्यक और असङ्गत विचारों को भगाने के लिये संघर्ष मत छेड़िए। उन्हें भगाने के लिये आप जितना भी प्रयत्न करेंगे, वे उतने ही जोर से लौट आयेंगे, दूनी शक्ति प्राप्त करेंगे। आप अपनी शक्ति और सङ्कल्प को क्यों कष्ट देते हो?

उनकी उपेक्षा कीजिए। मन में सदा सद्विचार भरिए। वे धीरे-धीरे अस्त हो जायेंगे। तैलधारावत्

ध्यान के द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्त कीजिए।

शरीरगत तनाओं को दूर करने से मन स्वस्थ और शान्त हो जायेगा। शिथिलीकरण की प्रक्रिया से मन, थके हुए अङ्गों और शिथिल नाड़ियों को विश्राम दीजिए। आप उससे अपरिमित मानसिक शान्ति, शक्ति और ताजगी अनुभव करेंगे। जब आप मन या शरीर का शिथिलीकरण करें तब मस्तिष्क में किसी भी प्रकार अव्यवस्थित या असङ्गत विचार न आने दें, क्रोध, हताशा, असफलता, दुःख, शोक, झगड़ा आदि से मन का आन्तरिक तनाव बढ़ता है। उन्हें निष्कासित कर दीजिये।

६. नैसर्गिक विचारों का रूपान्तरण

चिन्तन चार प्रकार का है: प्रतीक चिन्तन, नैसर्गिक चिन्तन, उत्तेजक चिन्तन और अभ्यासगत चिन्तन।

शब्दों के द्वारा चिन्तन प्रतीक चिन्तन या सांकेतिक चिन्तन है। नैसर्गिक चिन्तन उत्तेजक चिन्तन से अधिक बलशाली होता है। शरीर, खान-पान, स्नान आदि बातों का चिन्तन अभ्यासगत चिन्तन है।

सांकेतिक चिन्तन तो आसानी से रोका जा सकता है, पर नैसर्गिक और उत्तेजक चिन्तन को रोकना कठिन है।

चिन्ता और क्रोध को दूर करने से मानसिक समता और शान्ति प्राप्त की जा सकती है। भय वस्तुतः चिन्ता और क्रोध इन दोनों में सन्निहित रहता है। सजग और सतर्क रहें। प्रत्येक अनावश्यक चिन्ता को हटा दीजिए। उत्साह, पराक्रम, सन्तोष, शान्ति और प्रसन्नता की बातें सोचिए। प्रतिदिन किसी भी अभ्यस्त सुखासन में कुछ समय के लिए शान्ति से बैठिए।

आप आराम-कुर्सी पर बैठ जाइए। आँखें मूँद लीजिए। बाह्य विषयों से मन को समेट लीजिए। मन को स्थिर कीजिए। उफनते हुए विचारोंको शान्त कीजिए।

१०. अन्यासगत विचारों की संख्या घटायें

सामान्यतया अभ्यासहीन व्यक्तियोंके मनमें चार-पांच प्रकार के विचार एक साथ हावी हो जाते हैं, घरेलू बातें, काम-धन्धे की बातें, कार्यालय की बातें, शरीर की बातें, खाने-पीने की बातें, आशा-आकांक्षा, धन कमाने की कोई योजना, किसी के

प्रतीकार लेने की बात, शरीर की आदतोंसे सम्बन्धित कुछ अभ्यासगत विचार, स्नान इत्यादि की बातें एक साथ उसके मन में उठा करती हैं।

सायं ३-३० बजे बड़ी रुचि से कोई पुस्तक पढ़ने बैठे कि ४-०० बजे खेले जाने वाले क्रीकेट के देखने के आनन्द की भावना उसके मन में बार-बार बाधा उपस्थित करती है। एकमात्र एकाग्रचित योगी ही एक समय में एक ही विचार कर सकता है; मन की यह अवस्था दीर्घ काल तक बनाये रख सकता है।

आप अपने मन का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो विदित होगा कि कई विचार तो असङ्गत ही हैं। मन व्यर्थ ही इधर-उधर भटकता रहता है। एक विचार अपनी देह और उसकी आवश्यकताओंका उठता है तो दूसरा मित्रों के बारे में होता है; कुछ विचार धन कमाने के आते हैं तो कुछ खाने-पीने के आते हैं। कुछ तो बचपन के स्मरण-सम्बन्धी विचार होते हैं।

यदि आप अपने मन का अध्ययन करें, एक समय में एक ही विचार करें और दूसरे विचारों को अलग कर दें, तो यह अपने आप में एक बड़ी उपलब्धि मानी जायगी; क्योंकि विचार-नियमन की दिशा

में प्रगतिकी यह एक महत्वपूर्ण स्थिति है। निरुत्साहित मत हों।

११. स्फूर्तिदायी विचार एकत्र करें

जीवन का ध्येय भगवद्भाव प्राप्त करना है। वह इस प्रकार की अनुभूति करना है कि मैं न तो यह नश्वर शरीर हूँ, न परिवर्तनशील सीमित मन हूँ। मैं तो परिशुद्ध नित्य मुक्त आत्मा हूँ।

इस स्फूर्तिदायी विचार का सदा स्मरण रखो– **"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः"**–यह जन्मरहित है, नित्य है, स्थायी है और सनातन है। यही तुम्हारा वास्तविक स्वरूप है। यह नाम-रूपात्मक अस्थायी शरीर तुम नहीं हो। न तो तुम रामस्वामी हो, न मेहता हो, न मुकर्जी हो, मैथ्यु, गर्दे, आप्टे कुछ भी नहीं हो। अज्ञान के कुछ उड़ते बादलों के कारण तुम इस छोटे से अस्तित्व के भ्रम में पड़ गये हो। जागो और अनुभव करो कि तुम शुद्ध आत्मा हो।

एक और महान् स्फूर्तिदायी औपनिषदिक वचन है : **"ईशावास्यमिदं सर्वम्"**—यह जो कुछ भी जीवनवान् इस जग में है, सब परमेश्वर से आवासित है। फूलों और हरी दूबों के साथ मुस्कुराओ। पौधों,

अंकुरों और डालियों के साथ किलकिलाओ। अपने सभी पड़ोसियों से; कुत्ते, बिल्ली, गाय, मानव, पशु, पक्षी, वृक्ष तात्पर्य यह है कि समस्त सृष्टि में मैत्री जोड़ो। तुम्हारा जीवन पूर्ण होगा, समृद्ध होगा।

१२. आलोकमय विचारों का मनन करो

यदि आप अपनी विचार-शक्ति को बढ़ाना चाहते हैं, अपना व्यक्तित्व विकसित करना चाहते हैं और महान् बनना चाहते हैं तो हमेशा अपने पास कोई ऐसी दो-एक पुस्तकें रखें जिनमें तेजस्वी और आलोक प्रदान करने वाली बातें हों। बार-बार उन्हें पढ़ते रहें। तब तक पढ़ते रहें जब तक वे आपके जीवन में एकरस न हो जायें और जीवन में तथा नित्य-क्रियाओं में प्रतिफलित होने न लगें।

मननार्थ यहाँ कुछ स्फूर्तिदायी विचार दे रहा हूँ:-

१. विशुद्ध चेतना से हृदय सुदृढ़ और चित्त शक्तिशाली होता है।

२. दारिद्र्य आलस्य का बड़ा भाई है।

३. आत्मज्ञान सर्वोत्तम निधि है। ध्यान उसकी कुञ्जी है।

१३. गलत विचार बनाम सही विचार

वासना और कामनामय विचारों को ब्रह्मचर्य के

गम्भीरतापूर्ण अभ्यास से, सत्य के साक्षात्कार की गहरी निष्ठा से, ईश्वर-दर्शन की उत्कण्ठा से तथा पवित्रता के लाभों के चिन्तन से जीतना चाहिए।

घृणा और क्रोध के विचारों को प्रेम, क्षमा, दया, मैत्री, शान्ति, सहिष्णुता और अहिंसा के विकास से जीतना चाहिये।

गर्व और उससे जुड़े हुए विचारों को नम्रता विकसित करने वाले मूल्यों के व्यवस्थित मानसिक परीक्षण द्वारा नियन्त्रित करना चाहिये।

लोभ, परिग्रह और लालसा के विचारों को प्रामाणिक व्यवहार, अनासक्ति, उदारता, सन्तोष और अलिप्सा आदि विचारोंसे समाप्त करना चाहिए।

सङ्कीर्णता, ईर्ष्या और हीनता पर विजय पाने में उदात्तता, महानता, सन्तोष और हृदयवैशाल्य उपयोगी होते हैं।

भ्रान्ति और मोह को जीतने के लिये विवेक-बुद्धि का विकास उत्तम उपाय है।

मिथ्याभिमान दूर करने के लिए सर्वतोमुखी सादगी और अहङ्कार को मिटाने के लिए सज्जनता का विकास करना चाहिए।

१४. विचार का सरगम

विचार अनेक विध हैं—नैसर्गिक विचार, दृश्य विचार, (दर्शन सम्बन्धी शब्दों से किया जाने वाला विचार), श्राव्य विचार (श्रवण सम्बन्धी शब्दों से किया जाने वाला विचार), साङ्केतिक विचार(सङ्केतों की भाषा में किया जाने वाला विचार) और आदत के अनुसार किये जाने वाले विचार।

कुछ सञ्चारी विचार होते हैं जो हलचल, खेल-कूद और भाग-दौड़ की भाषा में किये जाते हैं। कुछ भावनात्मक विचार हैं।

विचार दृश्य से श्राव्य बन सकते हैं और श्राव्य से सञ्चारी में बदल सकते हैं।

सोचने का और साँस का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि मन और प्राण का निकट सम्बन्ध है। जब मन को एकाग्र करते हैं, तब साँस धीमी हो जाती है। अगर विचार जोरों से चलने लगे तो साँस भी तेज चलने लगेगी। साइकोग्राफ (Psychograph) एक यन्त्र है जो विचारों का अध्ययन प्रस्तुत कर देता है कि मन में किस प्रकार का विचार चल रहा है।

१५. हीन विचार और नैतिक विकास

अनियन्त्रित विचार ही सभी पापों का मूल है। प्रत्येक विचार अपने आप में नितान्त दुर्बल होता है; क्योंकि असंख्य और नानाविध विचार मन को बराबर विभाजित करते रहते हैं।

विचारों को जितना-जितना नियन्त्रित करते जायें मन की एकाग्रता उतनी-उतनो बढ़ती जाती है और परिणाम-स्वरूप मनोबल और विचार-शक्ति अधिक होती जाती है।

हीन और दुष्ट विचारों को मिटाने में पर्याप्त धैर्य की आवश्यकता पड़ती है; परन्तु उच्च विचारों का चिन्तन उन्हें बड़ी आसानी से और शीघ्रता से नष्ट करने का उत्तम उपाय है। जो मूढ़ जन विचार के सिद्धान्तों को नहीं जानते हैं तथा प्रापञ्चिक विषयों में निमग्न रहते हैं, वे बहुत शीघ्र घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, प्रतीकार, वासना आदि दुष्ट-विचारों के शिकार बन जाते हैं, स्वयं दुर्बल सङ्कल्प वाले बनते हैं, विवेकहीन होते हैं और मन की सूक्ष्म विपरीत वृत्तियों के दास बन जाते हैं।

मनोबल प्राप्त करने का सर्वोत्कृष्ट उपाय यही है

कि उन्नत, उदात्त और सद्‌विचारों का चिन्तन किया जाय और उनकी सहायता से क्षरणशील, विक्षेपकारी, चञ्चल, वैषयिक तथा प्रापञ्चिक विचारों को नियन्त्रित किया जाय।

जब भी कोई असद्‌विचार मन में आये तो उसे जीतने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसकी उपेक्षा की जाय। पाप-विचार की उपेक्षा कैसे करें? उसे भूल जाओ। भूलें कैसे? उसमें रमण न करो और उसका लगातार चिन्तन न करो।

उनमें हम रमें कैसे नहीं और निरन्तर चिन्तन कैसे न करें? अत्यन्त रुचिकर, उन्नत, स्फुर्तिदायी किसी दूसरे विचार की ओर ध्यान दो। उन्हें भूल जाओ; ठुकरा दो; प्रेरणाप्रद कोई दूसरी बार सोचो। इन तीन बातों का अभ्यास करना पाप-विचारों पर वश प्राप्त करने की उत्तम साधना है।



महा वाक्य

—लेखक—

परमहंस स्वामी योगानन्द जी

* जीवन्मुक्ति *

(गताँक से आगे)

एक जिमींदार का लड़का बचपनसे ही अत्यन्त सीधे स्वभावका और शान्त था। प्रथम तो उसके माता पिता उसको पागल अथवा मूर्ख समझते थे परन्तु ज्यों २ वह बड़ा होता गया त्यों २ शांत, सुशील और बुद्धि वाला मालूम हुआ। माता पिता ने लौकिक विद्या पढ़ाने का बहुत प्रयत्न किया परन्तु प्रयत्न के अनुसार वह पढ़ न सका, कुछ भाषा मात्र सीख सका। उसकी बुद्धि पढ़ने में मंद मालूम होती थी परन्तु जब किसी भक्ति के वाक्य का उच्चारण कराया जाता तो ठीक २ याद रह जाता था। उसके यहाँ कथा, वार्ता, पूजन, पाठ आदिक हमेशा हुआ करता था। वह पूजन की सब विधि, पूजन के मंत्र और जो २ कथा होती थी उसको सम्पूर्ण याद रख लेता था। यज्ञोपवात संस्कार होने के बाद संध्या, पूजन और हवन आदि में वह दो घंटे नित्य लगाता था और जो कुछ

करता, पूर्ण प्रेम से करता था। कहीं साधु संतों को देखता तो उनके पास पहुँच जाता और उनके एक २ शब्द को चित्त लगा कर सुनता था, घर वालों और व्यवहारिक मनुष्यों से उसे प्रेम न था, जब देखो तब एकांत में बैठा रहता था। ऐसा करते हुए वह युवा हुआ। जब माता पिता का देहांत हो गया तब घरका और जागीरका सब काम उसके जिम्मे पड़ा तो भी वह अपने भाव में ही मस्त रहता था, उसका पुराना कारिंदा सब काम किया करता था। उस जिमींदार का स्त्री और पुत्र के ऊपर विशेष प्रेम न था, साधु संतों से मेल रखता था। जिन २ साधुओं को वह जानता था उन सबको ही अपना गुरु मानता था और शिष्य भाव वाला होकर प्रत्येकसे कुछ न कुछ उपदेश ग्रहण किया करता था। जब वह पच्चीस वर्ष का हुआ तब उसको आत्मज्ञान हो गया, बाद उसकी जीवन्मुक्ति की अवस्था बढ़ती गई। वह गृहस्थी में बना रहा। लोग उसे महात्मा समझते थे और आशीर्वाद लेने उसके पास आया करते थे। वह सबके ऊपर शुभ भावना वाला था और सबका शुभ चाहता था। प्रख्याति बढ़ती गई और लोग अपने मुख्य २ कर्मों के लिये देवता के समान उस जागीरदार की मान्यता करने लगे। कोई पताशे बांटता कोई सवा सेर, पांच सेर अथवा दशसेर पेड़ोंकी मानता करता था और कोई जागीरदार के निमित्त ब्रह्म भोजन कराता था। इसी प्रकार जागीरदार भी सब पर दयालु बना रहता था। जागीरदार का कारिंदा ईमानदार था, सब काम यथार्थ रीति से किया करता था। एक समय कई आसामियों पर जमीन की भेज चढ़ गई। वे देते नहीं थे इसलिये कारिंदे ने सरकार में नालिश कर दी। आसामियों को निश्चय था कि सरकार डिगरी कर देगी इसलिये वे दश मनुष्य सवासेर पेड़े लेकर जागीरदार के पास

पहुँचे और "हमारी मानता का है" ऐसा कह कर भेट धर दी। जागीरदार—महात्मा ने कहा "तुम्हारी किस प्रकार की मानता है ?" एक मनुष्य ने सबकी तरफ से कहा "हम आपके आसामी हैं दो तीन साल वर्षा अच्छी न होने से आपकी भेज हम पर चढ़ गई है, हम दे नहीं सकते, आपके कारिंदे ने हमारे ऊपर नालिश कर दी है, हम उसमें जीत जायें, इस भाव से यह भेट धरी गई है !" जागीदारने कहा "अच्छा ! जाओ तुम लोग जीत जाओगे !" आसामी प्रसन्न होते हुए अपने घर चले गये। दूसरे दिन मुकदमा था। दैवयोग से कुछ ऐसा ही बनाव बन गया कि मुकदमा सीधा होते हुये भी कारिंदा हार गया और आसामी जीत गये। कारिन्दे को मालूम पड़ गया कि वे लोग जागीरदार के पास पहुँचे थे और जागीरदार ने ही उन लोगों को जीत जाने का आशीर्वाद दिया था। कारिन्दा जागीरदार के पास गया और कुछ क्रोधित सा होता हुआ बोला "हम अब आपका काम किस प्रकार कर सकते हैं ? आसामियां रुपया नहीं देती थीं, अन्त में लाचार होकर बड़े परिश्रम से नालिश की थी, आपने उन लोगों को जीत जानेका वरदान दे दिया। वे जीत गये ! हम आपका काम ठीक २ करने का प्रयत्न करें और आप उसे तोड़ डालें ! ऐसे कैसे काम चलेगा ?" जागीरदार बोला "तू क्यों घबराता है ? मेरा काम तो ठीक हो ही रहा है ! तू ठीक क्या करेगा ? तुझे 'मेरे तेरे' का दृढ़ भाव है, मुझे ऐसा नहीं है तू जिस जिसको अपना कहता है, मैं उसे अपना नहीं समझता, सब पृथ्वी ही मेरा कुटुम्ब है, मैं सबका ही हित चाहता हूँ मैने आशोर्वाद दिया, उसमें कौनसी भूल की ? तू मुझे जागीरदार समझता है और मेरी भेज मानता है मैं अपने को जिमींदार नहीं समझता, न

अपनी भेज मानता हूँ। मैं सर्वत्र प्रेम वाला हूँ, एक सन्त के भाव से मैंने आशीर्वाद दिया था, मैं जो कुछ करता हूँ, अपनी इच्छा से नहीं करता, दूसरे की इच्छा ही प्रवृत्त होकर कार्य कराती है। सोच मत कर, अपनी शुद्ध बुद्धिसे कार्य किये जा, जिसका जैसा प्रारब्ध होता है, वैसा वरदान मुझसे ले जाता है, उसमें तुझे क्या ?" जिमींदारकी सम दृष्टि देख कर और सुनकर कारिन्दा स्तब्ध हो गया, उसका क्रोध चला गया ! क्रोध ही चला गया हो इतना ही नहीं उसको एक प्रकार की शान्ति भी प्राप्त हुई।

ऊपर का दृष्टांत जीवन्मुक्त के आंतर भाव को समझने में मदद रूप है। वरदान देने में जिमींदार का यह भाव नहीं था कि मैं अपने विरुद्ध जीत जाने का वरदान देकर प्रशंसा को प्राप्त होऊं। जीवन्मुक्त का अन्तःकरण मक्खनके समान कोमल हो जाता है। उसके अन्तःकरण में से 'मेरा, तेरा' राग द्वेष युक्त विकारी भाव बहुत प्रकार से नष्ट हो जाता है, वह ऐसा नहीं मानता कि मैं आशीर्वाद देता हूँ किन्तु ऐसा मानता है कि दूसरे का प्रारब्ध मुझ से आशीर्वाद दिलवाता है। जीवन्मुक्त की वाणी अति शुद्धता में निकलती है, कोई भी प्रश्न उसके सन्मुख होते ही उसका उत्तर हृदयमें स्फुरित हो आता है। वह परा वाणी के शब्दों को यथार्थ जान लेता है, यदि योग्य न समझे तो बाहर नहीं निकालता और कोई २ शब्द तो स्वाभाविक ही वैखरी वाणी में आकर बाहर निकल पड़ते हैं। उसको भाव नहीं होता कि मैं इन शब्दों को बोलता हूँ।

जीवन्मुक्त को स्थितप्रज्ञ अथवा समबुद्धि भी कहते हैं। उसके जितने लक्षण दिखलाये हैं वे सब सूक्ष्म यानी मानसिक

लक्षण दूसरे की दृष्टिका विषय नहीं हैं। कई मानसिक लक्षणों की जब स्थूल में छाया पड़ती है तब उस छाया से मानसिक का अनुमान किया जाता है। बंध अज्ञान है, अज्ञान देखने का विषय नहीं है। चित्त का प्रपंच की तरफ घूमते रहना, अपना-आतमा का बोध-ज्ञान न होना अज्ञान है। इसलिये अज्ञान मानसिक है। मन में से अज्ञान का भाव निवृत्त होना और स्वरूप का बोध होना, यह ज्ञान है। जिसको ऐसा ज्ञान हो वह ज्ञानी है और शरीर रहते हुए भी आतम बोध में स्थित जीवन्मुक्त है। अज्ञान सूक्ष्म है इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति स्थूल में से देखी नहीं जाती। यद्यपि स्थूल शरीर आदिक संपूर्ण जगत् भी अज्ञान का कार्य कहा जाता है किंतु वह अज्ञान नहीं है क्योंकि उसके होते हुये भी जो अज्ञान है वह निवृत्त हो सकता है। जिस का अज्ञान निवृत्त हो जाता है, उसको शरीर और जगत् बन्धन रूप नहीं होता। शास्त्र में अज्ञान को दो प्रकार का कहा है:—मूलाविद्या और तूलाविद्या। मूलाविद्या सूक्ष्म है, तूलाविद्या स्थूल है, मूलाविद्या कारण है, तूलाविद्या कार्य है। अज्ञानीको ये दोनों ही दुःख देनेवाली हैं। जीवन्मुक्त की मूलाविद्या का नाश हो जाता है। तूलाविद्या कुछ समय तक रहती हुई भी जीवन्मुक्त को दुःख और बन्धन रूप नहीं होती। जीवन्मुक्त के निश्चय में तूलाविद्या नहीं है, केवल दिखावे मात्रकी है। अज्ञानीके लिये वे दोनों ही पूर्ण प्रबल हैं। मूलाविद्या वृक्षकी मूल रूप है, तूलाविद्या संपूर्ण ऊपरका वृक्ष है, संसार रूप वृक्ष की जड़ जिसकी कट गई है, ऐसे जीवन्मुक्त का थोड़े समय के लिये वृक्ष खड़ा दीखे, हरा दीखे तो भी वह वास्तविक में नहीं है। जिसको यह खबर नहीं है कि इस विशाल वृक्ष की जड़ कट गई है, वह कटी हुई जड़ वाले वृक्ष

को भी सजीव समझता है, ऐसा समझना अज्ञानियों का जीवन्मुक्त के विषय में होता है। जब किसी प्रकार जमीन के भीतर जड़ कट जाती है अथवा सड़ जाती है तो मालूम नहीं पड़ती; इसी प्रकार जीवन्मुक्त की संसार की जड़ कट गई है, यह अज्ञानियों को मालूम न हो, ऐसा हो सकता है।

जीवन्मुक्त पुरुष के द्वन्द्व निवृत हुये होते हैं। एक ही प्रकार के उलटे सुलटे भाव वाले, जो पदार्थ हैं वे द्वन्द्व कहलाते हैं। जैसे सुख दुःख, लाभ अलाभ, भय अभय, जय पराजय इत्यादि। इन सब दो दो भावों से दुनियाँ है। इन दो दो भावों को ही द्विविधा कहते हैं। जिसकी द्विविधा-द्वन्द्व निवृत्त हो गया है उसके लिये जगत् अनेक प्रकार का होते हुए भी एक प्रकार का हो जाता है दो की बनी हुई दुनियां में से जब दोपना निवृत्त हो जाता है तब परब्रह्म ही शेष रहता है। जितने विकार हैं, उन सबका अभाव हो जाता है। पदार्थों में नाम रूप की सत्यता जो दृढ़ हो गई है, फिर नहीं रहती इसलिये जीवन्मुक्त पुरुष सबको समभाव से देखता है। व्यवहार में उत्तम और अधमका बोध रहते हुए ज्ञानी दृष्टि-भावमें समानता है। प्रत्येक मनुष्य जिसको देखता है, अपनी बुद्धि से देखता है यानी पांचों इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण त्याग अपनी बुद्धि के अनुसार करता है। अज्ञान दशा में अनेक प्रकार के विचित्र भावों से रंगी हुई बुद्धि पुरुष का वेष धारण करके जगत् में नृत्य करती रहती है। जब बुद्धि की विषमता-दृढ़ प्रपंचाकार वृत्ति आत्म बोध से निवृत्त हो जाती है तब ही बुद्धि सम होती है। सम बुद्धि से जो देखा जाता है, वह समता युक्त ग्रहण किया जाता है। जीवन्मुक्त की बुद्धि की जो समानता है वह सूक्ष्म में है, आत्म भाव से है, व्यवहार में नहीं है क्योंकि वह

ज्ञानी है पागल अज्ञानी नहीं है व्यवहार में उसकी बुद्धि व्यवहार के अनुकूल वर्तती है परन्तु आत्म भावसे विचलित नहीं होती। जैसे नट खेलमें अनेक प्रकार की क्रिया करता हुआ, वेष धारण करता हुआ सुखी दुःखी दीखता हुआ अपने निश्चय में विकार वाला नहीं होता; इसी प्रकार सब कार्य करते हुये जीवन्मुक्त की बुद्धि विकारी नहीं होती। नट का तमाशा कमाने का होता है, जीवन्मुक्त को प्रारब्ध वेग पूर्ण करना होता है।

जब उदयपुर में महाराणा राजसिंह राज करता था तब एक दिन नटों के मुखिया ने राज सभा में आकर अपना तमाशा देखने की विनती की। राजसिंह ने दूसरे दिन राज भवन के आंगन में तमाशा करने की आज्ञा दी। नटों ने दोनों तरफ बल्लियों की घोड़ी बांध कर उनके ऊपर रस्से बांधे और उनके ऊपर अनेक प्रकार के, चित्तको आकर्षण करने वाले तमाशे किये। दोनों तरफ हाथों में भरी हुई बन्दूकें लेकर रस्से पर से एक दूसरे को न छूते हुए बन्दूक की आवाज करते हुए निकल जाने का तमाशा हो रहा था! रस्सा पुराना हो रहा था, उसकी एक बट बीच में से टूट गई। रस्सा जमीन से सौ हाथ ऊंचाई पर था। नट और प्रेक्षक सब घबरा गये। राणा राजसिंह आदि सब राज भवन के झरोखे में से तमाशा देख रहे थे। नटों का नायक उसी समय चिल्ला कर कहने लगा "क्या ऐसा कोई सती दातार है, जिसके नाम का उच्चारण करने से इस विघ्न की निवृत्ति हो जाय? किस का ऐसा पुण्य है, जो हमारी जानों को बचा दे?" राणा को यह आशा थी कि अभी मेरे नाम का उच्चारण किया जायगा परन्तु ऐसा न हुआ! एक नट मरण के भय से बोल उठा "जो पारकार के

पृथिवीपति चन्दन सोढा का सत्य शुद्ध हो तो हमारी रक्षा करे !" बाद खेल चालू ही रहा और निर्विघ्न समाप्त हुआ। राणा ने नटों को योग्य इनाम देकर बिदा किया, परन्तु उसके दिल में भारी खटका लगा रहा। दूसरे दिन राणाने दरबार भर कर अपना विचार इस प्रकार प्रगट किया:—"चन्दन सोढा खारी जमीन का मालिक है, उसका राज छोटा सा है, जब देखो तब दुष्कालसे घिरा रहता है, उसके सत्यकी महत्वता गाई गई, मेरा सत्य भुला दिया गया। मैं बारोट को भेज कर चन्दन सोढाके सत्य की परीक्षा कराऊँगा !" सभा भी सहमत हुई। राणा ने एक बारोट से कहा "तू चन्दन सोढा के यहाँ जा और उसके सत्य की परीक्षा ले !" बारोट खर्च के दाम लेकर चन्दन सोढा के यहाँ गया। वहाँ उसका बहुत सत्कार हुआ, उतरने को स्थान दिया गया और खाने पीने का योग्य प्रबन्ध किया गया। चौथे दिन चन्दन सोढा ने बारोट को दरबार में बुलाकर पूछा "आपका आना यहां किस हेतु हुआ है ?" बारोट बोला "अन्न दाता ! मैं आपके पास मन चाहा हुआ दान लेने को आया हूँ !" चन्दन सोढा बोला "रावजी जो तुम्हारी इच्छा में आवे सो मांग लो ! बारोट विचार में पड़ा "क्या मांगना चाहिये, जो सोढा दे न सके और महाराणा राजसिंह की महत्वता बनी रहे, सोढा की रानी भटियानीजी बहुत सुन्दर है, युवा है और सोढा को अति प्रिय है, दरबार में से उठकर तीन २ बार उसका मुख देखने को जाया करता है, उसे ही माँगना चाहिये, उसको वह न देगा !" ऐसा विचार बारोट बोला "महाराज ! मेरी माँगी हुई वस्तु देने का आप वचन दीजिये !" चन्दन सोढा ने जोश के साथ बारोट के हाथ पर हाथ धर कर कहा "लो यह राजपूत वचन है !" बारोट

बोला "हे पारकर के धनी ! जो आपको देना ही हो तो मुझे अपनी रानी भटियानीजी दे दो, इसके सिवाय दूसरी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करूँगा !" सोढा आश्चर्यमें पड़ते हुए बोला "जा ! दी" और रानी को कहला भेजा कि मैंने तुझे दान में दे दिया है, तैयार हो दरबार में आजा ! रानी पति के वचन को प्रभु का वचन मानती थी, स्नान करके वस्त्र पहिन कर दरबार में परदे के पीछे आ खड़ी हुई। सोढा ने परदा तोड़, रानी का हाथ पकड़ दरबार में लाकर बारोट के हाथ में रानी का हाथ देते हुये कहा "लो ! अपनी माँगी हुई वस्तु भटियानी जी !"

बारोट ऊपर की सब चेष्टा देखकर घबरा गया ! उसकी धारणा से सब विरुद्ध हुआ ! "मेरी क्या कमबख्ती लगी थी कि मैंने इस प्रकार की बखशीश माँगी, अब इस बात को फिरा देना चाहिये ! ऐसा विचार हाथ जोड़ कर बोला "महाराज मैं तो आपकी परीक्षा लेता था, आप में कितना सत्य है, यह देखता था, रानी तो मेरी मातुश्री है !" राजा गंभीरता से बोला "जो वस्तु मैंने एक बार दान दे दी, उसको मैं फिर नहीं ले सकता ! तुमको रानी को स्वीकार करना होगा !" रानी बोली "हे बारोट राज ! मैं अपने स्वामी की आज्ञा से आई हूँ, मुझे किसी प्रकार का दोष नहीं है ! मुझको माँग लेने के बाद विचित्र प्रकार के कसम खाकर मेरी जिंदगी को मत बिगाड़ो;" बारोट यह कुछ भी न सुनकर अश्वारूढ़ होकर वहाँ से चल दिया। राजपूतानी को क्रोध आया और उसी समय चिता सुलगा कर जल मरी।

जिस प्रकार चन्दन सोढा का निश्चय पक्का था इसी प्रकार जीवन्मुक्त का होता है। चन्दन सोढा दान देनेमें प्रसिद्ध था। दान देने के अनेक पदार्थ हैं, स्त्री देने का पदार्थ नहीं है।

भटियानीजी सोढा को अत्यन्त प्यारी थी, ऐसे ही सोढा को रानी पूर्ण भाव से चाहती थी। जिस प्रकार राजा का सत्य वचन और अत्यन्त प्यारी रानी को वचन में दे देने का भाव अपूर्व है उसी प्रकार पति की अप्रिय आज्ञाको प्रियपन से ग्रहण करना भटियानीजी का अपूर्व भाव है। जीवन्मुक्त सबमें मिला हुआ दीखता है तो भी उसकी किसी में किंचित् भी आसक्ति नहीं होती क्षण भर में सबको हटा देता है और आप अपने निश्चय में टिका रहता है। जीवन्मुक्तका निश्चय ही जीवन्मुक्ति है। यदि निश्चय नहीं तो कुछ नहीं ! आत्म निश्चय में पूर्णता से टिके रहकर बाहर कैसा भी आचरण हो, आचरणके साथ सम्बन्ध न होनेसे जीवन्मुक्त को किसी प्रकार का दोष नहीं होता। उसके शरीरसे यदि किसीकी महा हत्या भी हो जाय तो ज्ञानी हत्याका भागी नहीं होता। प्रथम तो ऐसा होना ही संभव नहीं है कि ज्ञानी किसी की हत्या करे फिर भी यदि हो जाय तो दूसरे के प्रारब्ध का भोग है, उसका कार्य नहीं है, दूसरे का भोग उसके द्वारा सिद्ध हुआ है, ऐसा समझना चाहिये। ज्ञानी में कर्तापने का अभिमान न होने से उसका शुभ अथवा अशुभ कर्म के फलों से सम्बन्ध नहीं है, उसका सब कर्म जला हुआ है, केवल दूसरे के देखने में है, जला हुआ प्रारब्ध कैसा होता है, यह नीचे के दृष्टान्त से स्पष्ट हो जायगा।

पांडव कौरवोंका जो महाभारत युद्ध हुआ था, उसमें द्रोणाचार्य के मरने के बाद अश्वत्थामा आदि योधाओं के साथ पांडवों का युद्ध हुआ था अर्जुन के रथ को चलाने वाले सारथी श्री कृष्ण थे। जब वे रथ को लेकर चले तो उन्होंने सत्य संकल्प किया कि आज के युद्ध की समाप्ति पर्यन्त ये रथ और घोड़े सब जैसे हैं वैसे ही रहें यानी रथ हटने, गिरने अथवा

जलने न पावे और घोड़े मरने न पावें। सत्य संकल्प मिथ्या नहीं जाता। प्रसंग ऐसा ही बना कि अश्वत्थामा ने अर्जुन के रथ पर ब्रह्मास्त्र यानी अग्नि वर्षाया, उस करके रथ और घोड़े सब जल गये किन्तु जले हुये भी सत्य संकल्प के प्रभाव से युद्ध की समाप्ति पर्यन्त न जले हुये के समान रहे। जब भगवान् ने अर्जुन को रथ पर से उतार कर संकल्प के प्रभावको खींच लिया तब रथ और घोड़ों का ढेर हो गया! इसी प्रकार प्रारब्ध रूप सत्य संकल्प है। ज्ञानाग्नि करके ज्ञानी का शरीर और सब व्यवहार जला हुआ है तो भी प्रारब्ध की निवृत्ति पर्यन्त देखने में आता है। वस्तुतः वह अज्ञानी के समान नहीं है। शरीर रूपी रथ को इस प्रकार समझोः—स्थूल शरीर रथ है पुण्य पाप दो पहिये हैं, त्रिगुण रूप ध्वजा है, पंच प्राण बन्धन हैं, इन्द्रियां घोड़े हैं, पांच विषय मार्ग हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, संकल्प प्रारब्ध है, अहंकार बैठने का स्थान है, रथी आत्मा है, वैराग्यादि साधन शस्त्र हैं और मनुष्य जन्म रण भूमि है।

एक गरीब वृद्ध किसान की एक स्वरूपवती कन्या थी, उसका नाम प्रज्ञादेवी था जैसी वह रूपवती थी इसी प्रकार बुद्धिशाली भी थी, जो कोई उसके साथ थोड़ी भी बात चीत करता तो मालूम पड़ता था कि वह बहुत ही बुद्धिशाली है। पिता जो कुछ कमाई करता था उसी में कोर कसर करके वह अपना निर्वाह करती थी एक दिन प्रज्ञादेवीने कहा "पिताजी! राजा चतुर और धर्मात्मा है, गरीब आदमियों की बात सुनता है और सहायता भी देता है, आप उसके पास जाइये और सहायता देने की विनती कीजिये!" किस प्रकार बोलना आदि सब सिखा कर उसने उसे राजा के पास भेजा। लड़की

के कहे अनुसार वृद्ध किसान ने राजा के पास जाकर विनती की। चतुर राजा समझ गया कि वृद्ध जो शब्द बोलता है, वे उसे किसी ने सिखाये हैं, कहने लगा "हे वृद्ध ! इस प्रकार बोलना तुझे किसने सिखाया है ?" वृद्ध बोला "महाराज ! मेरी पुत्री ने !" राजा आश्चर्य युक्त होकर बोला "वह किस उमर की है ? क्या कुछ पढ़ी है ?" वृद्ध बोला "महाराज ! वह किसीसे पढ़ी नहीं है ! शादी करने के योग्य हो गई है, मैं गरीब हूँ, अभी तक शादी नहीं कर सका हूँ !" राजा ने दो चार बातें पूछकर प्रज्ञादेवी की परीक्षा ली, वह पूर्ण प्रज्ञा ही थी ! अन्तमें राजाने उसे देखा तो वह योग्य उमर की और रूप का भण्डार थी। राजा ने उस पुत्री का अपने साथ विवाह करने को वृद्ध से कहा। वृद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ, अन्त में प्रज्ञादेवीका राजा के साथ विवाह होने का निश्चय हुआ। प्रज्ञादेवीने विवाह होने से प्रथम राजा से कहा "मैं आपके साथ शादी करने को तैयार हूँ, परन्तु मैंने सुन रक्खा है कि राजा लोग जैसे तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसे ही तुरन्त अप्रसन्न भी हो जाते हैं इसलिये आप मुझे वचन दीजिये कि जब आप मुझ पर क्रोधित होंगे तब मैं आपके राजमहल में न रहूँगी। मेरे लिये एक स्वतंत्र महल शहर के बाहर प्रथम से ही बना देना चाहिये। जिस समय मैं आपके राजमहल से निकल कर शहर के बाहर के महल में जाऊँगी तब मैं अपना गुप्त धन अपने साथ ले जाऊँगी ! उस समय आप मुझे रोक नहीं सकते !" राजा ने यह बात स्वीकार कर ली और दोनों का विवाह हो गया।

विवाह के बाद कितनेक वर्ष परस्पर प्रेमानन्द में व्यतीत हुए। एक दिन एक तुच्छ कार्य के लिये राजाने प्रज्ञारानी को

तिरस्कार कर क्रोध युक्त हो दो चार भली बुरी बातें सुना दीं। रानी उस समय कुछ न बोली, जब शाम के समय राजा को शांत देखा तब कहने लगी "महाराज ! आप मुझ पर क्रोधित हुए हैं, आपने मेरा तिरस्कार किया है, इसलिये अब मैं इस राजमहल में रहना ठीक नहीं समझती ! विवाह के पूर्व मैंने आपसे जो वचन लिये थे, उनके अनुसार मुझे शहर के बाहर के महल में रहने की आज्ञा दीजिये !" राजा बोला "मैं अपने कहे हुए वचनों का पालन करने वाला हूँ, यदि तू राजमहल में रहना नहीं चाहती तो मैं भी बलात्कार से तुझे यहाँ रखना नहीं चाहता, तू राजमहलमें से कौनसी वस्तु अपने साथ ले जाना चाहती है ?" रानीने नम्रता पूर्वक कहा "महाराज ! मैं जिसे अपने प्राणों से भी अधिक चाहती हूँ उसे मैं अपने साथ ले जाऊँगी ! मैं आपके महल में से एक ही वस्तु ले जाऊँगी, आप निश्चित रहिये !" राजा कुछ न बोला ! रानी ने पीने के जल में नशा करनेवाला एक गुप्त द्रव्य मिला कर राजा को पिला दिया। जब राजा रात्रि को गाढ़ निद्रा में पलंग पर सो रहा था, तब रानी पलंग सहित राजा को उठवा कर अपने साथ अपने महल में ले गई। दूसरे दिन सुबह को जब राजा जाग्रत हुआ, तब इधर उधर देखने लगा। उसको निश्चय हो गया कि वह अपने राजमहलों में नहीं है। मैं कहाँ हूँ, मुझे यहाँ कौन लाया' इत्यादि आश्चर्य से विचार कर रहा था, वहाँ कोई मनुष्य नहीं दीखता था, चिल्ला कर बोल उठा "अरे ! मैं यहाँ कैसे आया ? मुझे यहाँ कौन लाया ? यह कौन स्थान है" तुरन्त रानी दौड़ कर पास आ कहने लगी "विचारो ! आप कहाँ हो ? मैंने आपकी आज्ञानुसार आपके महालय का त्याग किया है ! अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरे

गुप्त धन जो आप हो, हे प्राणेश्वर ! उसे मैं अपने साथ ले आई हूँ ! आप ही मेरे प्राण से अधिक प्रिय हो ! हृदयेश्वर ! पत्नी को पति से अधिक प्रिय अन्य कौन हो सकता है ? आप मेरे गुप्त धन हो ! आप मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिये !" रानी के युक्ति-युक्त मधुर वचनों से राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और प्रेम से आलिंगन करके बोला "हे प्रिये ! मैं इतने दिन तक तेरे साथ रहा परन्तु तुझे पूर्ण रीतिसे पहिचान न सका ! तूने मेरा कुछ भी अपराध नहीं किया है, मैंने ही तेरा तिरस्कार करके अपराध किया है ! अब उस को भूल जा !" पश्चात् राजा रानी दोनों अति प्रसन्न हो, उसी महल में रहे !

जिस प्रकार प्रज्ञादेवी को राजा प्रिय था इसी प्रकार संस्कार युक्त, आत्मभाव वाली बुद्धि को आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय होता है। वह आत्मा को कभी नहीं छोड़ती। ऐसी जिसकी प्रज्ञा–बुद्धि हुई है, वह ही जीवन्मुक्त है। जीवन्मुक्त को जो सुख होता है वह सुख राजा, महाराजा और इन्द्रादिक देवताओं को भी नहीं होता और विदेह कैवल्य में भी नहीं होता। वह सुख आनन्दका समुद्र है, आनन्द का पहाड़ है किन्तु ज्ञाता के भिन्न भाव से रहित है। जीवन्मुक्त आनन्द का समुद्र होते हुऐ भी बाधानुवृत्ति से आनन्द का भोक्ता है, जीवन्मुक्त का आनन्द प्रत्यक्ष है, देश काल और शरीर के रूपांतर की उसे आवश्यकता नहीं हैं। पूर्ण जीवन्मुक्ति वही है जो विदेह की इच्छा रहित हो, जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों से पर हो और साथ ही दोनों का अनुभव करनेवाली हो। जिसने उसे प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ कर लिया, ब्रह्मांड को जीत लिया, हाथ में धर लिया, जो कोई सबके अधिपति-अधिष्ठाता-आधार का प्रत्यक्ष स्वरूप हो, वह ही जीवन्मुक्त है।

—— रते समय उसके ...

महापुरुषों की जीवनियाँ

* राजर्षि भरत *

परम भगवद्भक्त राजर्षि भरत भगवान् ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे। इन्होंने पिता की आज्ञा से राज्यभार स्वीकारकर विश्वरूप की पञ्चजनी नाम की कन्या के साथ विवाह किया और उसके द्वारा पाँच पुत्र उत्पन्न किये। हमारा यह भारतवर्ष, जो पहले अजनाभखण्ड के नाम से प्रसिद्ध था, इन्हीं महानुभावके नाम पर भरतखण्ड अथवा 'भारतवर्ष' कहलाया। ये सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाले और धर्म के अनुकूल बर्ताव करने वाले थे और पिता के समान प्रजा का पालन करते थे। इन्होंने यज्ञक्रतुरूप भगवान् का समय-समय पर अपने अधिकार के अनुसार अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग प्रभृति छोटे-बड़े यज्ञों के द्वारा श्रद्धापूर्वक आराधन किया। ये यज्ञ से उत्पन्न होनेवाले धर्म-नामक अपूर्व कर्मफल की सर्वान्तिर्यामी, परमदेव, यज्ञपुरुष भगवान् वासुदेवके अन्दर भावना करते हुए अपनी कुशलता से रागादि मलों का क्षय करके यज्ञ के भोक्ता सूर्यादि देवताओं को भी भगवान् [illegible] पास हुए हरिण के बच्चों में एकत्वरूप से चिन्तन करने

लगे। इस प्रकार कर्म की पूर्णता से शुद्धचित्त हुए भरत के हृदय में भगवान् वासुदेव के प्रति उत्तरोत्तर बढ़नेवाली विशुद्ध भक्ति उत्पन्न हुई और उस भक्तियोग का आचरण करते उन्हें कई हजार वर्ष बीत गये। तदनन्तर वे अपने राज्य को पुत्रों में विभक्त कर घर को त्याग कर पुलह ऋषि के आश्रम हरिक्षेत्र को चले गये। वहाँ विद्याधर नामक कुण्ड में भक्तों के ऊपर दया करनेवाले भगवान् अब भी वहाँ रहनेवाले अपने भक्तों को स्वरूपसे सान्निध्यका सुख देते हैं और वहाँ गण्ड की नदी शालग्राम शिला के चक्रों से ऋषियों के आश्रमों को चारों ओर से पवित्र करती है। उस क्षेत्र में पुलहाश्रम की पुष्पवाटिका में रहते हुए राजर्षि भरत विषय-वासना से मुक्त होकर और अन्तःकरण को वश में करके अनेक प्रकारके पत्र-पुष्प, तुलसी-दल, जल, कन्द, मल, फल आदि सामग्रियों से भगवान् की आराधना करने लगे। इस प्रकार निरन्तर भगवदाराधना करते-करते उनके हृदय में भगवत्प्रेम की इतनी बाढ़ आ गई कि फिर उनसे आराधना भी अविधिपूर्वक नहीं हो पाती थी। वे भगवत्प्रेम में इतने मस्त हो जाते थे कि उन्हें क्या करना है, इस बात को भूल जाते थे और घण्टों भावावेश में मग्न रहते थे।

एक दिन राजा भरत गण्डकी नदी में स्नान-सन्ध्यादिक नित्य-नैमित्तिक कर्म करके प्रणवका जप करते हुए तीन घण्टों नदी पर बैठे रहे। इतने में वहाँ जल पीने की इच्छा से अपनी टोली से बिछुड़ी हुई एक हरिणी आयी। उसने ज्यों-ही जल पीना आरम्भ किया, त्योंहि सिंह के दहाड़नेकी आवाज आयी। वह बेचारी जल पीना तो भूल गई और उसने बड़े वेग से नदी के उस पार छलाँग मारी। छलाँग मारते समय उसके गर्भाशय

में से बच्चा बाहर निकल पड़ा और नदी के प्रवाह में गिर गया। हरिण ने भी एक गुफा में जाकर प्राण त्याग दिये। इस सारे दृश्य को देखकर भरत का कोमल हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने दयापरवश हो उस मातृहीन बच्चे को जल में से बाहर निकाल लिया और उसे अनाथ समझकर वे अपने आश्रम में ले आये। धीरे-धीरे उस बच्चे में उनकी आसक्ति और ममता हो गयी। वे बड़े चाव से उसे खिलाते-पिलाते, हिंस्र जन्तुओं से उसकी रक्षा करते, प्रेम से उसे पुचकारते और उसके शरीर को खुजलाते तथा सहलाते। इस प्रकार धीरे-धीरे उनकी उस बच्चेमें आसक्ति बद्धमूल हो गयी और उसके पीछे उनका सारा कर्म-धर्म छूट गया। वे रात-दिन उसी के लालन-पालन में लगे रहते। उनकी आसक्ति कर्तव्यबुद्धि के रूपमेंउनके सामने आकर उन्हें धोखा देने लगी। 'वे सोचते कि कालचक्र ने ही इस बच्चे को अपने माता-पिता से छुड़ा कर मेरी शरण में पहुँचाया है। अतः इस शरणागत की सब प्रकार से रक्षा करना मेरा धर्म है।' एक दिन वह मृगशावक खेलता-खेलता आश्रम से बहुत दूर निकल गया और लौटा नहीं। अब तो राजर्षि उसके वियोग में बहुत व्याकुल हो गये और उसे याद कर-करके रोने लगे। उन्होंने सोचा कि उसे किसी हिंस्र पशु ने मार तो नहीं डाला और इस अनिष्टाशंकाने उनके हृदय को व्यथित कर डाला। इस प्रकार उनके प्रारब्ध ने ही मानो हरिण के बच्चे का रूप धारण कर उन्हें योगमार्ग से और भगवदाराधनारूप कर्म से भ्रष्ट कर दिया; अन्यथा जिस राजर्षि ने अपने औरस पुत्रों—अपने हृदय के टुकड़ों और और अपनी पाणिगृहीता पत्नी का परित्याग कर दिया, उसकी एक पोसे हुए हरिण के बच्चे में इतनी आसक्ति कैसे होती!

अस्तु ।

एक दिन राजा उसी मृगशावक की चिन्ता में बैठे थे कि अकस्मात् उनका मृत्युकाल उपस्थित हो गया और उन्होंने उसी मृगछौने का ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये । 'अन्ते मतिः सा गतिः' इस नियम के अनुसार उन्हें अगले जन्म में हरिण का शरीर मिला, परन्तु भगवदाराधन के प्रभाव से उनकी पूर्वजन्म की स्मृति नष्ट नहीं हुई । उन्होंने सोचा 'अरे, मैंने यह क्या किया । एक हरिण के मोह में दुर्लभ मनुष्य-जन्म को व्यर्थ ही खो दिया ।' अब तो वे पूर्णतया सावधान हो गये । वे अपने परिवार को छोड़कर उसी पुलहाश्रम में चले आये और वहाँ सब प्रकार का सङ्ग त्याग कर मुनि की भाँति अकेले ही विचरते और मृत्यु की बाट देखते रहे । जब मरण-काल निकट आया, तब उन्होंने गण्डकी नदी में स्नानकर उस मृग-शरीर को त्याग दिया । उन्हें तीसरे जन्म में ब्राह्मणयोनि प्राप्त हुई । वहाँ वे जड़भरत कहलाये और उसी शरीर से वे मुक्त हो गये ।



गीता के मोती

व्याख्याकार—'साधु'

अन्त मति सो गति

(८२)

—याद रहे—

दैवी प्रकृति के अनेक अटल नियमों में से यह एक अटल नियम है कि मनुष्य जीवनभर जिस-जिस प्राणी-पदार्थ का बारम्बार चिन्तन एवं स्मरण करता रहता है उसी चिन्तन के अनुसार अन्तःकरण पर संस्कार पड़ते चले जाते हैं और कुछ समय तक ये संस्कार मन में बड़े गहरे उतर जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के अनुसार ही वह संकल्प-विकल्प करता है और फिर बाह्य रूपसे वैसे ही कर्म करने के लिये बाध्य हो जाता है। इन्हीं कर्मों के अनुसार वैसे ही संस्कार पुनः अन्तःकरण पर जा पड़ते हैं।

इस प्रकार सारा जीवन एक साधारण जीव नाना

प्रकार के संस्कार ही इकट्ठे करता रहता है और विशेष-विशेष प्राणी-पदार्थों के साथ विशेष आसक्ति बढ़ता रहती है और अन्त समय में वही याद आते हैं।

कोई विरला बड़भागी जीव आजीवन बड़ी साव-धानी के साथ प्रभु-चिन्तन में गुज़ार देता है और अपने मन को समस्त नाम-रूपों से भली प्रकार हटाये रखता है। उसके मन में न कहीं राग होता है और न ही कहीं द्वेष। राग-द्वेष के अभावमें अन्तःकरण पर किसी भी प्रकार के संस्कार पड़ते ही नहीं और वह बिल्लौर के शीशे के समान दिन-प्रतिदिन निर्मल हो जाता है और अन्त समय में वैसी ही उसकी सुगति होती है।

अतः हमारे जगत्-गुरु भगवान्जी अपनी ब्रह्म-विद्या प्रदायिनी श्रीगीताजी में इस रहस्य को प्रकट करते हुए कह रहे हैं—

यम् यम् वा अपि स्मरन् भावम् त्यजति अन्ते कलेवरम्।
तम् तम् एव एति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

गीता—८/६

—अर्थात्—

जब इन्साँ बदन को कहे ख़ैरबाद,
करे आख़िरी वक़्त जिस शय को याद।

तो अर्जुन उसी शय से वासल हो वो,
लगाई थी लौ जिससे हासिल हो वो ॥

सदा हरि भजो !

(८३)

—याद रहे—

जब यह सिद्धान्त निर्विवाद से सत्य है कि **'जैसा सोचोगे वैसा बनोगे'** तथा आगामी जीवन भी हमारे विचारों के अनुरूप ही होगा तो बुद्धिमत्ता इसी में है कि इस समस्त संसार के साररूप श्रीभगवान्‌जी का ही नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेका दृढ़ अभ्यास बना लेना चाहिये। कौन कह सकता है कि यह अनित्य, क्षण-भंगुर, अस्थाई एवं कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जलकी बूँदकी भाँति अति चञ्चल जीवन कब समाप्त हो जाये! अतः ज़रूरी है, नहीं नहीं अनिवार्यरूप से उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते आते-जाते तथा दैनिक हर प्रकार का व्यवहार करते हुए प्रभु-चिन्तन ही करते रहना चाहिये। हमारे भगवान् जी भी यही तथ्य की बात समझाते हुए उपदेश दे रहे हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु माम् अनुस्मर युध्य च।

गीता—८/७

—अर्थात्—

मुझे याद अर्जुन ब-हररंग कर,
लिये जा मेरा नाम और जंग कर।

सब तज, हरि भज

(८४)

—याद रहे—

सचमुच, यदि प्रभु-प्राप्ति की तीव्र आकांक्षा उठ खड़ी हुई है तो संसार के सब नाम-रूपों को अनित्य एवं अत्यन्त दुःखदायी समझ कर यथा शीघ्र अपने मन को इन सब से हटा लेना चाहिये। विवेक एवं विराग का पूरा सहारा लेते हुए अब अपने मन को किसी भी पुराने विषय का चिन्तन नहीं करने देना चाहिये। यदि यह मन पुराने गन्दे स्वभाव के कारण किसी नाम-रूप की ओर जाने भी लगे तो तत्काल 'विवेक' की सहायता से रोक देना चाहिये। तब, केवलमात्र तब ही मन की इस सुस्थिर अवस्था में 'योग' के साथ पूरा-पूरा न्याय हो सकता है, अन्यथा कदापि-कदापि नहीं। इसी राज़ की बात को समझाते हुए हमारे श्रीभगवान्‌जी उपदेश दे रहे हैं—

'चेतसा नान्यगामिना'

गीता—८/८

—अर्थात्—

'किसी गैर का जब हो ख्वाहाँ न दिल।'



प्रभु पुजारी—ब्रह्मचारी

(८५)

—याद रहे—

यदि आध्यात्मिक मार्गमें दिन दोगुनी रात चौगुनी उन्नति करने की ज्वलन्त कामना उदय हो चुकी है तो इन्द्रियों के सब-के-सब विषयों से अपने मन को शीघ्र-अति-शीघ्र उपराम कर लो। इस प्रकार मन की बिखरी हुई अनमोल शक्ति को एकत्र करते हुए भाग चलो अपने प्रभु को ओर! जब तक निर्विकल्प समाधि में पूर्णरूपेण तल्लीन हो नहीं जाते तब तक कहीं भी रुकने का नाम तक न लो। ऐसा करना तब ही सम्भव हो सकेगा जब आप मनसा-वाचा-कर्मणा एक हो कर ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करने का दृढ़ एव सुदृढ़ निश्चय कर लोगे। अतः श्रीभगवान्‌जो फ़रमा रहे हैं—

'यत् इच्छन्तः ब्रह्मचर्यं चरन्ति'

गीता—८/११

प्रभु-प्राप्ति सुलभ

(८६)

—याद रहे—

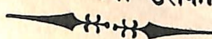
उस अहोभाग्यशाली साधक के लिये प्रभु-प्राप्ति बिल्कुल सुलभ हो जाती है जो अनन्य चित्त हो कर अपने भजन, स्मरण एवं योगाभ्यास में तत्परतापूर्वक लगा हुआ है। इस सराहनीय एवं अनुकरणीय देव-दुर्लभ उत्तम अवस्था में उसका मन पूर्ण रूप से अन्तर्मुखी बन जाता है। अब वह अधिक-से-अधिक समय मौनी बाबा बन कर एकान्त सेवन करता रहता है। तीव्र वैराग्य के फलस्वरूप उसके नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प सदा के लिये छू-मन्त्र हो जाते हैं। गम्भीर, धीर एवं वीर बना हुआ वह अपने योगाभ्यास में दिन-रात जुटा रहता है। ऐसे बड़भागी योगी के लिये ही तो हमारे भगवान्‌जी कह रहे हैं—

'तस्य अहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः'

गीता—८/१४

—अर्थात—

सदा मेरा पेहम जिसे ध्यान है,
तो मिलना मेरा उसको आसान है।



मुक्ति कब ?

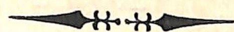
(८७)

—याद रहे—

स्थूल रूप में तीन लोक माने जाते हैं यथा (क) मर्त्य लोक, (ख) पाताल लोक एवं (ग) देव लोक। इन तीनों लोकों में प्रवेश करने वाला जीव आवागमन के चक्कर से छूट नहीं सकता। क्योंकि इन लोकों में जीव अपने पुण्यों के प्रताप से प्रवेश करते हैं परन्तु पुण्यों का कोष जब समाप्त हो जाता है तो सर्वेश्वर के अटल नियमानुसार जीव को बाध्य हो कर उस लोक का त्याग करना ही पड़ता है—परन्तु जब कोई बड़भागी जीव निरन्तर साधना करते-करते अपनी देह-मन-बुद्धि के परे आत्मा में तल्लीन हो कर साक्षात्कार कर लेता है तब, केवलमात्र तब ही वह इस विचित्र एवं अद्भुत आवागमन के चक्कर से सदा-सदा के लिये मुक्त हो कर 'मोक्षपद' को प्राप्त हो जाता है। इसी तथ्य की बात को स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान्जो कह रहे हैं—

माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।

गीता—८/१६



भक्तों की दिनचर्या

(८८)

-याद रहे-

प्रभु के भक्त अपनी ओर से पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए यत्नपूर्वक मन-ही-मन प्रभु चिन्तन करते रहते हैं। नाना प्रकार के व्रतों का यथा—स्वाध्याय करना, कुछ घण्टे मौन रहना, नकारात्मक वृत्तियों से स्वतन्त्र रहना, सब का भला सोचना व सब का भला करना एव युक्त आहार-विहार करना इत्यादि, बड़ी दृढ़ता-पूर्वक पालन करते रहते हैं। आपस में जब कई भक्त इकट्ठे होते हैं तो बड़ी श्रद्धा, लग्नता एवं अत्यन्त प्रेम-पूर्वक भगवान्‌जी के अति मधुर-मधुर एवं मनोहारी नामों का कीर्तन करते हुए आत्म-विभोर हो जाते हैं। इस प्रकार वे सारा दिन नाना प्रकार की शुभ क्रियाओं से अपने इष्टदेव भगवान्‌जी को रिझाते रहते हैं। भगवान्‌जी स्वयमेव अपने श्रीमुख से कह रहे हैं—

सततम् कीर्तयन्तः माम् यतन्तः च दृढव्रताः।
नमस्यन्तः च माम् भक्त्या नित्ययुक्ताः उपासते ॥

गीता—९/१४

—❀❀—

भगवान् सर्वेसर्वा

(८९)

–याद रहे–

हमारे इष्टदेव भगवान्‌जी एक होते हुए भी अनेक रूपों में विराजमान हैं। वही माता-पिता हैं, वही बन्धु हैं, वही सखा हैं, वही सम्बन्धी हैं, वही पितामह एवं प्रपितामह हैं, वही आचार्य एवं गुरु हैं तथा वही ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के रूप में प्रगट होते रहते हैं। अतः साधक को उन पर पूर्ण भरोसा रखते हुए बिलकुल निश्चिन्त हो जाना चाहिये। अपने खान-पान, भोजन, वस्त्र, निवास, स्वास्थ्य इत्यादि के विषय में तनिकमात्र भी सोचना विचारना नहीं चाहिये क्योंकि—

प्रभु देत हैं भोजन उसको भी,
जो कोड़ा रहता काठ में है।
फिर चिंता अकारथ है करनी,
जब डोरी उनके हाथ में है॥

फलतः श्री भगवान् जी इस राज़ को प्रगट करते हुए कह रहे हैं—

'पिता अहं अस्य जगतः माता धाता पितामहः'

गीता—९/१७

तू-ही-तू

(६०)

—याद रहे—

कार्य अपने कारण से कदापि-कदापि पृथक् नहीं किया जा सकता। जैसा कि नाना प्रकार के भूषण अपने कारण स्वर्ण से अलग नहीं किये जा सकते. सूती वस्त्र सूत से न अलग थे न होंगे, मृतिका से रचित पात्र मृतिका से भिन्न किसी भी दशा में नहीं किये जा सकते। इसी प्रकार इस सारी सृष्टि को अपने स्रष्टा (भगवान्) से रञ्चिकमात्र भी पृथक् करने की धृष्टता एवं अनाधिकार चेष्टा भला कौन मूर्ख करेगा ! यदि इस विचारधारा एवं दृष्टिकोण से बारम्बर मनन किया जाये तो यही निर्णय होता है कि यह समस्त गोचर-अगोचर, दृश्य-अदृश्य, भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर एवं कण-कण, नहीं नहीं **'सब में सब कुछ'** अर्थात् निमित्त एवं उपादान कारण वही भगवान् हैं ! निस्सन्देह वही भगवान् ही हैं। इसो रहस्य की बात को प्रगट करते हुए हमारे भगवान् गुरु फ़रमा रहे हैं—

'सत असत च अहं अर्जुन'

गीता—९/१९

आयाराम, गयाराम !
गयाराम, आयाराम !!

(९१)

—याद रहे—

आ के जाता रहा, जा के आता रहा,
यूँही चक्कर चौरासी के खाता रहा।
इसी आवागमन के उलट फेर में,
वक्त हीरा यह हाथों से जाता रहा॥

बड़ा विचित्र मानव है यह ! प्रथम तो यह शुभ कर्म करना व्यर्थ समझता है, यदि किसी के समझाये-बुझाये जाने पर शुभ कर्म करता भी है तो इस प्रसिद्ध कहावत के अनुसार कि 'बकरी ने दूध दिया, मेंगने डाल के' अर्थात् सकाम भावना रख कर ना कि प्रभु समर्पित बुद्धि से। अतः अपने इन सकाम पुण्यों के प्रताप से शरीर छूटने के पश्चात् स्वर्गलोक में जा कर एक दीर्घ समय तक खूब रङ्ग-रलियां मनाता है परन्तु खेद, महा खेद ! यह पुण्यों के समाप्त हो जाने पर हारे हुए जुआरिये की तरह इसी मर्त्यलोक में पुनः जन्म धारण कर लेता है। यह क्रम कई जन्मों तक चलता

ही रहता है। हमारे एक भारतीय कवि ऐसों की दुर्दशा को देख कर क्या ही जोरदार शब्दों में व्यंग्य कसते हुए कह रहे हैं—

चीखे, चिल्लाये, कूदे, उछले, टहले,
हर फिर के वहीं रहे जहाँ थे पहले।
हालत तो वही है, बल्कि उससे भी बदतर,
अब जो जिसके जी में आये कह ले॥

फलतः हमारे श्रीभगवान्‌जी अपने सच्चे भक्त को स्वर्ग के प्रलोभन में न आने के लिये खूब चेतावनी देते हुए कह रहे हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।

गीता—९/२१

—अर्थात्—

फ़िज़ाओं में जन्नत की खुशियाँ मनायें,
मगर हो के खाली यहीं लौट आयें।





रचयिता—'साधु'

हमने गीता की अजब तासीर देखो,
जो सुनता है सो तरता है ।
यह अद्‌भुत भारत की जागीर देखो,
जो सुनता है सो तरता है ॥

(१)

हमें गीता में ऊँचे विचार मिले,
हर शब्द में कृष्ण मुरार मिले ।
यहाँ भोगों की मिटती लकीर देखो,
जो सुनता है सो तरता है ॥
हमने गीता की अजब........

(२)

उपदेश बड़ा ही निराला है;
जो सुनता वो भागों वाला है ।

बड़ी अच्छी उसकी तकदीर देखी,
जो सुनता है सो तरता है ॥
हमने गीता की अजब.........

(३)

गीता में ज्ञान-भण्डार भी है,
यहाँ मुक्ति का खुला द्वार भी है।
यहाँ जन्मों की टूटती जञ्जीर देखी,
जो सुनता है सो तरता है ॥
हमने गीता की अजब.........

(४)

सुनो गीता के अनुयायियो !
श्रद्धालु, प्रेमी भाइयो !
ज्ञान, भक्ति की सुन्दर तस्वीर देखी,
जो सुनता है सो तरता है ॥
हमने गीता की अजब.........

(५)

यह ग्रन्थों में ग्रन्थ निराला है,
सब शास्त्रों में उत्तम आला है।
अहा ! कृष्ण की वाणी बेनज़ीर देखी,
जो सुनता है सो तरता है ॥
हमने गीता की अजब.........

❋ गीता-महिमा ❋

जिस प्रकार भूले और मोहित हुए अर्जुन को उस समय इस 'भगवान् के गीत' ने मार्ग दर्शाया, उसी प्रकार इस समय भूले-भटके और मोहित हुए जनों को भी यह गीता सच्चा मार्ग दर्शायेगी और मानवी उन्नति का पथ सबके लिये खुला कर देगी।

—श्रीपाद दामोदर सातवलेकर



"मनुष्य की समस्त कामनाओं को सिद्ध करने वाली श्रीमद्भगवद्गीता के अमृत रस का पान आज तक विभिन्न प्रणालियों के द्वारा कितने भक्तों ने किया, कितने सन्तों को उसका पान कराया, आज कितने कर रहे हैं तथा भविष्य में कितने पान कर तृप्त होंगे इसकी गणना नहीं, सीमा नहीं।"

—श्री नारायणाचार्य जी



"अपार दुःख और संकट से भरे संसार के प्रत्येक व्यक्ति, जाति, समाज और राष्ट्र के लिये गीता में बतलाये गए कल्याण के मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं हो सकता है। उसी के द्वारा वर्तमान शोक-संताप का नाश हो सकता है और व्यापक सुख, समृद्धि, शान्ति और एकता का राम-राज्य आ सकता है। आवश्यकता है गीता-ज्ञानके व्यापक प्रचार की।"

—श्री राम दयाल सिंहजी



REGD. No. [illegible]AB-7



हे जिज्ञासु अर्जुन ! तुझे यज्ञ निमित्त ही कर्म करना चाहिए अर्थात् अपने स्वार्थ एवं धर्मसे विचलित करने तथा अत्यन्त दुःख देने वाली आसक्ति का त्याग करते हुए लोक-उपकारक कर्म ही करने चाहिएं। याद रहे वीरवर अर्जुन ! कोई भी ऐसी छोटी-बड़ी क्रिया जिससे अधिक-से-अधिक जनता का अधिक-से-अधिक समयके लिये अधिकतम लाभ एवं उपकार हो, उसे यज्ञ कहा जाता है। ऐसी यज्ञ निमित्त क्रियामें अपना अहंकारभाव तनिकमात्र भी नहीं होता।

—'साधु'